सम्पादकीय

जीवन संयम, अनुशासन का नाम है। प्रत्येक मनुष्य को अपनी जीवन शैली अनुशासित एवं संयमित रखनी चाहिए। आदमी का बचपन तो माता–पिता के द्वारा अनुशासित होता है। उसके बाद की अवस्था गुरूजनों से संयमित होती है। लेकिन जब मनुष्य को यह भान होने लगता है कि अब हम बहुत ही समझदार हो गये हैं। तब उसका पतन प्रारम्भ हो जाता है। जैसे एक बालक अपने पिता जी के साथ पतंग उड़ा रहा था। बालक पतंग उड़ाते–उड़ाते उस पतंग को इतनी ऊचाई पर पहुँचा दिया कि डोर समाप्त हो गयी। उस बालक ने अपने पिता जी से कहा कि पिता जी यदि डोर और होती तो पतंग और ऊचाई को प्राप्त होती। पिता ने जवाब दिया कि हाँ बेटा! पुनः उस लड़के ने कहा कि यदि हम पतंग को छोड़ दें तो यह और ऊपर चली जायेगी, इतना कहकर बेटे ने पतंग की डोर छोड़ दी उस पतंग पर अनुशासन समाप्त हो गया। पतंग थोडी देर तो बड़ी तेजी से ऊपर गयी लेकिन कुछ ही क्षणों में नीचे आने लगी। तब उसके पिता ने समझाते हुए कहा कि जीवन भी इसी प्रकार संयमित रखना चाहिए। जीवन की डोर हमेशा किसी कुशलता से हाथों में रखनी चाहिए नही तो यह अनियमित होकर पतन के रास्ते पर अग्रसर होकर समाप्त हो जाती है। स्वतन्त्रता अच्छी है स्वछन्दता नहीं।

शोध मार्तण्ड का यह अंक आपके समक्ष प्रस्तुत है। प्रस्तुत अंक में नये–नये विषयों एवं विभिन्नताओं के साथ शोधपरक तथ्यों का समन्वय किया गया है। आज बेरोजगारी के आलम में उच्च शिक्षा प्राप्त छात्र इधर–उधर भटक रहे हैं। लेकिन उन छात्र एवं छात्रों से निवेदन है कि वे अपने आप को निराश न करें और अपनी रचनात्मक शैली को विकसित करें। नये तथ्यों एवं विषयों पर अध्ययन कर अपने विचारों को उच्च स्तर प्रदान करें। आपको सफलता अवश्य ही प्राप्त होगी।

शोध मार्तण्ड के इस अंक में आधुनिक भारतीय समाज में नैतिक मूल्यों का जो पतन दिखाई पड़ रहा उस पर एक समसामयिक लेख आप सुधी एवं विद्वत लोगों के लिए प्रस्तुत है। शोध पत्रों के क्रम में मनोज कुमार द्विवेदी के रामायण कालीन नारी एवं आलोक रंजन श्रीवास्तव के स्वातंन्योन्तर भारत सामाजिक–सांस्कृतिक परिदृश्य, करूणेश पाण्डेय द्वारा काव्य लक्षणों का समीक्षात्मक अध्ययन अजय तिवारी का कवि प्रदीप के फिल्मी गीत कथ्य एवं भाषा, विमल कुमार का भारतीय संस्कृति के वाहक पुराण, जी गणेशन मिश्रा के प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्वति : गुरूकुल, डॉ0 ललित कुमार मिश्र का स्थित प्रज्ञ : भगवद्गीता का सर्वातिशायी वैशिष्ट्य एवं अजीत सिंह, शिवप्रसाद सिंह के कथा साहित्य में राजनीतिक चेतना, डॉ0 योगेन्द्र तिवारी के संस्कृत साहित्य में पर्यावरण चेतना एवं प्रेमलता के चन्द्रकान्ता जी के उपन्यास में कथानक ''यहाँ वितस्ता बहती है के विशेष सन्दर्भ का सम्पादन किया गया है। डॉ0 प्रमिला मिश्र एवं एस0 पी0 मिश्रा के श्रीराम वनगमन का मूल्य आधारित चिन्तन तथा वीरेन्द्र प्रताप के समकालीन हिन्दी कविता में स्त्री मुक्ति का संघर्ष एवं रूचि रानी गुप्ता के हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में अध्यात्म, अमित कुमार तिवारी के विवादों का पुरूष राजेन्द्र यादव, प्रभात कुमार का वाल्मीकि रामायण में नीतितत्व एक विमर्श के साथ–साथ संदीप कुमार यादव के शोधपत्र महाभारत का महाकाव्यत्व–

एक विमर्श, डॉ0 सत्यप्रकाश शुक्ल का वैदिक एकेश्वरवाद द्वारा धार्मिक सहिष्णुता के लिए परमसत्ता के स्वरूपों का समन्वय, कल्पना का स्त्री विमर्श का अर्थ, रामचन्द्र रजक का अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और प्रवाद पर्व रामकृष्ण पाण्डेय का समकालीन हिन्दी कहानी और जनवाद, डॉ0 मनोज कुमार अग्रहरि का वैदिक साहित्य में यज्ञ एवं हरिकेश कुमार त्रिपाठी के रामचरितमानस –एक दार्शनिक विवेचन जैसे महत्त्वपूर्ण शोधपत्रों का प्रकाशन हुआ है। इसी क्रम में आंग्ल भाषा में लिखे गये लेखों का संपादन किया गया है।

पुस्तक समीक्षा में डॉ0 रामसेवक दुबे द्वारा लिखी गई टीका ''किरातार्जुनीयम् का डॉ0 गया प्रसाद मिश्र द्वारा समीक्षात्मक लेख को प्रकाशित किया गया है।

शोधार्थियों से निवेदन है कि वे इसी प्रकार अपने मौलिक शोधपत्रों को भेजते रहें। शोध मार्तण्ड की सफलता तभी होगी जब शोधार्थियों द्वारा मौलिक एवं तथ्यात्मक शोध पत्र प्रेषित किये जायेंगे।

शोध मार्तण्ड हेतु आपके सुझाव, समसामयिक लेख, शोधपत्र एवं पुस्तक समीक्षाओं की प्रतीक्षा रहेगी।

इन्ही शब्दों के साथ !

सम्पादक
डॉ0 विनय कुमार त्रिपाठी

आधुनिक भारतीय समाज में नैतिक मूल्यों का हास

डॉ0 विनय कुमार त्रिपाठी

संपादक
शोध–मार्तण्ड

आज हमारा समाज आधुनिकता की अंधी आधी में दौड़ लगाने के लिए पूर्णरूप से तत्त्पर है लेकिन हम सभी इस आधुनिकता के मूल अर्थ को न समझते हुए पाश्चात्य संस्कृति के पोषक होते जा रहे हैं। हम अपनी संस्कृति, नैतिकता, धर्म, नियम, संयम एवं आदर्शों को भूलते जा रहें है। इन सब की तिलांजलि देते हुए आधुनिकता की झीनी चादर को ओढ़ने का प्रयास कर रहे हैं। क्या इस चादर से हम अपने आपको ढ़क पायेंगे? क्या इस आचरण से हम अपने समाज एवं धर्म, आदि की रक्षा कर पायेंगे,? कदापि नहीं यह ऐसी चादर है जैसे आज की कुछ नारियाँ अपने शरीर को ढ़क तो लेती हैं लेकिन उनका कोई अर्थ नहीं होता। आज का समाज इसी चादर को ही श्रेष्ठ बताने पर तुला है। हमारे सामने आधुनिकीकरण की चुनौती है। हमने आधुनिकता के आधार मूल्य जैसे तार्किकता, विवकेशीलता, सामाजिक गतिशीलता, परानुभूति सक्रिय सहभागिता आदि नवीनताओं को तो गम्भीरता के साथ नहीं अपनाया। हम केवल उसके बाहरी एवं उपभोगवादी चकाचौध एवं लक्षणों में उलझकर रह गये हैं। परिणामस्वरूप हमारे सामाजिक जीवन में व्यक्ति केन्द्रियता बढ़ी है तथा मानवीय सामाजिक सरोकारों में कमी आयी है। धर्मनिरपेक्षता आज के परिवर्तन सामाजिक संदर्भ में धर्म विमुखता बन गयी है। धर्म के मूलाधार विस्मृत हो रहे हैं तथा तांत्रिक और चमत्कारिक बाबा लोग फल फूल रहे हैं। धर्म के अन्तर्निहित मूल्यों यथा–परोपकार, सेवा, करूणा, तथा समता आदि उदात्त भावनाए तो आज गौण होती जा रही है तथा इसके स्थान पर विवेकहीनता धर्मान्धता तथा मूल्यहीनता प्रधानता को प्राप्त हो रही है।

हमारी आत्मा में जो हमारी संस्कृति थी वह भी मरती जा रही है। हम अपनी संस्कृति को नहीं वरन् आपने आप को मारते जा रहे हैं। हम अपनी प्राचीन परम्पराओं को भी भूलते जा रहे हैं। उसे आधुनिकता का जामा पहनाकर उसकी आधुनिक विवेचना करके उसे मिटाने का प्रयास कर रहे हैं। समाज अनेक नये कलेवरों को धारण करता जा रहा है। क्या हम इससे आधुनिक हो जायेंगे? क्या हम इन सबसे विकासशील हो जायेंगे? आज बड़े–बड़े शहरों में वृद्धाआश्रम खुल रहें हैं। खुलना बुरा नहीं है लेकिन वह केवल दीन एवं अनाथ लोगों के लिए होना चाहिए। लेकिन आज हम उन्हीं स्थलों पर अपने माता–पिता को छोड़ देते हैं और यह कहकर की हमारे पास इन कर्मों को करने के लिए समय नहीं है। क्या यही हमारा कर्तव्य है? क्या यही भगवत्गीता में श्रीकृष्ण ने कर्म की परिभाषा दी है? नहीं हमारे ग्रन्थों में वो चाहे जिस भी धर्म का हो वह यह नहीं कहता कि हम अपने माता–पिता की सेवा न करें। यह तो

हमारा पहला कर्तव्य है। क्यों हम इस कर्तव्य को भूलते जा रहें हैं। क्या यही करने से हम बड़े या आधुनिक हो जायेंगे।

आज हमारे बच्चों में आदर्श एवं नैतिक मूल्यों का पतन होता जा रहा है। हाय बाय की संस्कृति इतनी बढ़ती जा रही है कि लोग अपने माता–पिता की अन्त्येष्टि करना उचित नहीं समझते। एक कथानक है कि एक पुत्र वाराणसी में जन्म लिया वह नौकरी के लिए किसी दूसरे देश में रहने लगा। कुछ दिनों बाद उसे पता चला कि उसके पिता जी काफी बीमार हैं। बीमारी को सुनकर वह व्यक्ति अपने पिता जी के देखरेख के लिए अपने घर आया और कुछ दिनों तक उनकी सेवा की लेकिन जब उसने देखा कि पिता जी कि स्थिति दिन–प्रतिदिन बिगड़ती जा रही है और वो ज्यादा दिन जीवित नहीं रहेंगे और इधर उसके पास समय भी नहीं था कि वह अपने पिता जी के अन्तिम समय तक रूक सके। तब उसने अपने सूट केश से एक कफन निकाल कर अपने पिता जी को देते हुए कहा कि मुझे पता है कि हमारी संस्कृति में पिता की मृत्यु के बाद पुत्र ही कफन देता है। इसलिए ये कफन आप अपने पास रख लीजिए क्योंकि मेरे लिए इतने दिनों तक रूक पाना सम्भव नहीं है। पुत्र की बातों को सुनकर पिता अपनी भीगी पलकों एवं हिलते हाथों से उसे स्वीकार किया और पुनः उसी बेटे को वही कफन वापस करते हुए कहा कि बेटा यह हमारी संस्कृति थी जोकि तुम्हें पता था कि पिता को बेटा ही कफन देता है लेकिन तुम्हारे बच्चों को यह नहीं पता रहेगा। पिता को पुत्र ही कफन देता है। इसलिए यह कफन तुम ही रखो।

कहने का तात्पर्य यह है कि हम अपने आपको तो अपनी संस्कृति का पोषक मान रहे हैं लेकिन अपने कर्तव्यों को भूलते जा रहें हैं। अपने बच्चों में उनके प्रभाव को नहीं छोड़ पा रहे है क्या वे आपके साथ वैसा आचरण करेगें जो आप चाहते हैं। नहीं आपने अपने पिता के साथ जो आचरण किया है उससे भी कहीं कम आपके साथ होगा। व्यक्ति के परिवार में माता, पिता, भ्राता, भगिनी, पुत्र, पुत्री आदि अनेक सदस्य होते हैं। समुचित नैतिक शिक्षा का लाभ उठाते हुए इन सबके प्रति हम समन्वयात्मक व्यवहार करें तभी परिवार का कल्याण हो सकता है। परिवार के बाहर मानव को समाज के अन्य व्यक्तियों से भी सम्पर्क रखना पड़ता है। उन सबके प्रति भी आपके कर्तव्य हैं किन परिस्थितियों में किसके साथ कैसा आचार करना चाहिए? यह लोकनीति का विषय है। हमारा जीवन व्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास चार आश्रमों में विभक्त है इन आश्रमों की सफलता का रहस्य क्या है? वर्ण व्यवस्था के अनुसार हमारे क्या कर्तव्य हैं इन सबका उत्तर हमें लोकनीतिगत बातों से ज्ञात होता है। इस नैतिकता को हमें आत्मसात् करना पड़ता है इसे अपने पूर्वजों के द्वारा दिये गये तत्त्वों से प्रतिदिन सीखा जाता है।

इधर मैं कुछ दिन पहले पढ़ा था कि चीन में कोई पन्द्रह सौ साल पहले कोई एक सम्राट था। वह मांस का बहुत शौकिन है और इतना शौकिन है कि वह अपने सामने ही जानवरों को कटवाता है। तो जो उसका कसाई है वह पन्द्रह साल से नियमित सुबह आकर उसके सामने ही जानवर को काटता है। एक दिन वह सम्राट पूछता है कि यह तू जो फरसा लाता है काटने को, यह मैने तूझे कभी बदलते नहीं देखा। पन्द्रह साल हो गए, इसकी धार

मरती नहीं? तो वह कसाई कहता है कि इसकी धार नहीं मरती। धार तभी मरती है जब कसाई कुशल न हो, धार तभी मरती है जब कसाई को पता न हो कि कहाँ ठीक जगह है, जहाँ से कटना आर–पार हो जाये और दो हड्डियॉ बीच में नहीं आती– ज्वाइंटस कहाँ है और यह मेरी पुश्तैनी कला है। यह फरसे की धार तो मरती ही नहीं, बल्कि रोज जानवर काटने से इसकी धार लग जाती है।

तो उस सम्राट ने कहा क्या तू यह कला मुझे भी सिखा सकता है? कसाई ने कहा कि यह बहुत कठिन है। यह तो मैं अपने बाप के पास, जब से मुझे होश है, तब से मै खड़ा रहा इसको मैने इंबाइब किया हूँ, इसको मैने सीखा नहीं इसको मैं पी गया हूँ। मैं बाप के पास खड़ा रहता था, रोज–रोज यही हो रहा था, दिनभर जानवर कट रहे थे, मैं पास खड़ा रहता था। कभी उनका फरसा उठाकर लाता था, कभी जानवर के कटे हुए अंगों को उठाकर रखता था। बस मैं इसे पी गया हूँ। अगर आप भी इतने के लिए राजी हो तो मेरे पास खड़े रहो, कभी उठाकर लाओं, कभी रखो, कभी बैठों, देखते रहो, इसको पी सको तो। नहीं तो मैं सिखा नहीं सकता।

अर्थात् हमें साइंस सिखाई जा सकती है। आर्ट सिखाया नहीं जा सकता। इसी प्रकार यह नैतिकता भी हम सीख नहीं सकते इसे इंबाइब अर्थात् आत्मसात् करना है। यह एक दिन के सीखने या जानने, पढ़ने से नहीं आ सकती इसे अपने जीवन में उतारना पड़ता है। आत्मसात् करना पड़ता है जो कि हमें अपने पूर्वजों द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। अन्य सभ्यता के लोग इसीलिए इस भारतीय संस्कृति को सीख तो ले रहे है पर आत्मसात् नहीं कर पा रहें। क्या हमारे धर्म, आदर्श सब झूठे हैं। नहीं कभी भी जब हम दुखी होते हैं तो और किसी को नहीं हम उसी ईश्वर अल्लाह को ही याद करते हैं और उन्हीं के स्थलों मंदिरों, मस्जिदों इत्यादि जगहों पर जाकर मत्था टेकते है। अगर यह सब झूठा होता तो हम क्यों जाते क्यों उस ईश्वर को याद करते क्यों पूजा करते। क्योंकि उस जगह से हमारा तादात्म्य है। हम जानते हैं हम महसूस करते हैं कि वहीं वह जगह है जो हमारे दुःख को दूर कर सकती है।

लेकिन यही बात यदि गंम्भीरतापूर्वक सोचे तो आज हमारे समाज में कुछ लोग ऐसे भी उत्पन्न होते जा रहें हैं जो हमारी इन संस्कृति, सभ्यता, आदर्शों, धर्मों, नैतिकताओं, आदि को गलत साबित करने पर लगे हैं। उनके अनुसार यह सब एक कोरी कल्पना है, न ईश्वर है, न मन्दिर, न मस्जिदों में जाने पर हमारे दुःखों की निवृति होगी। ऐसे ही लोग आधुनिकता की चादर को ओड़कर समाज को गलत दिशा प्रदान कर रहें हैं। आधुनिकता क्या है इस चीज का उन्हें भान ही नहीं है।

तीर्थ है, मन्दिर है, संस्कृति है, आदर्श है इन सबका अपना–अपना विज्ञान है और उस पूरे विज्ञान की अपनी सूत्रबद्ध प्रक्रिया है। एक कदम उठाने से दूसरा कदम उठता है, दूसरा उठाने से तीसरा, तीसरे से चौथा उठता है और हम परिणाम को प्राप्त करते हैं। एक भी कदम यदि बीच में से खो जाए, एक भी सूत्र यदि बीच में से खो जाए तो परिणाम पाना मुस्किल हो जाता है। जिन आदर्शों नैतिकताओं की हम बात कर रहें है उनका एक रहस्य है यदि हम इन नैतिकताओं को बदल कर कुछ नया करना चाहेंगे तो परिणाम बदल जायेगा। हमारी संस्कृति

हमारे आदर्श सब नष्ट हो जायेंगे। यदि हम कहें कि मन्दिरों का आकार–प्रकार गोल या वर्तुलाकार न बनाकर उसमें बड़ी–बड़ी खिड़कियाँ बड़े–बड़े दरवाजों को लगा कर उन्हें आधुनिक बना दिया जाए तो वह मन्दिर का स्वरूप नहीं घर का स्वरूप हो जायेंगा। उसका अपना विज्ञान है। जो चीजें जैसे हमें मिली हैं उसे उसी ही ढंग से आत्मसात् करना चाहिए यदि वैज्ञानिक दृष्टि से बात करें तो हाइड्रोजन आक्सीजन मिलकर ही पानी बनते हैं। किसी दूसरे से पानी का निर्माण करना सम्भव नहीं है। हमारे वैदिक शास्त्रों की भी एक परम्परा है उस परम्परा को हम अगर बदलना चाहें, उसे आधुनिकता का जामा पहनाना चाहे तो सम्भव नहीं है। वैदिक साहित्य का पश्चिमी भाषाओं में अनुवाद शुरू हुआ तो स्वभावतः पश्चिम में भाषा का जो जोर है वह भाषागत है, ध्वनिगत नहीं है फोनेटिक नहीं है। कोई शब्द लिखा जाए, तो वैदिक दृष्टि में उस शब्द में लिखने और बोलने का उतना मूल्य नहीं है जितना उसके भीतर विशेष ध्वनि और विशेष ध्वनि की मात्राओं का समाहित होना है। संस्कृत का जोर फोनेटिक है लिंग्विस्टिक नहीं हैं शब्दगत नहीं है ध्वनिगत है। यदि इसे लिख दिया जाए तो उसकी जो बारीक संवेदनाऐ हैं वह मर जायेंगी उसकी जो ध्वनिगत व्यवस्था है वह न खो जाए, जो सीधा व्यक्ति के द्वारा ही वह दूसरे को सुनाया जाए इसीलिए हम शास्त्रों को श्रुति कहते हैं। जो सुनकर मिले वही शास्त्र है उनमें ध्वनि पर बल दिया गया क्योंकि यही ध्वनि ही ब्रह्म है। शब्द ही ब्रह्म है। आज हमारे समाज में इन वैदिक ऋचाओं का पाठ लोग साधारण गेय के रूप में परिवर्तित कर लिये हैं। क्या इससे उन मन्त्रों का सही अर्थ स्पष्ट हो पायेंगा।

आधुनिक समाज में नैतिकता का पतन होता जा रहा है हम अपनी लोकनीतियों, राजनीतियों, आर्थिकनीतियों, सामाजिकनीतियों, धर्मनीतियों इत्यादि को भूलते जा रहे हैं। अनैतिकता की जो सीढ़ियाँ हैं उस पर चढ़ने का प्रयास कर रहे हैं। क्या इन अनैतिकता की सीढ़ियों का कभी अन्त ही नहीं होगा? हमें अपने आप में परिवर्तन लाना होगा। पुनः अपनी सभ्यता, संस्कृति, आदर्शों पर चलकर उनकी रक्षा करनी होगी। यहॉ वसुधैव कुटुम्बकम् की उक्ति को चरितार्थ करना होगा जिससे हम पुनः विश्व गुरू की उपाधि को हासिल कर सकें। गाँधी जी की यह बात आज हमें बार–बार याद आती है कि भारत को अपने मूलभूत सांस्कृतिक बुनियादों तथा मूल्यों पर कायम रहकर ही बाहरी दुनियाँ के स्वस्थ सांस्कृतिक प्रभावों से अपने को मजबूत बनाना ही श्रेयस्कर है।

रामायणकालीन नारी

मनोज कुमार द्विवेदी

शोध छात्र–संस्कृत विभाग
म0 गाँ0 का0 विद्यापीठ
वाराणसी उ0प्र0।

किसी भी देश काल एवं समाज के मूल्यांकन का सर्वोत्तम आधार उसमें नारी दशा का अध्ययन करना है। समाज में स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण अत्यन्त महत्वपूर्ण सामाजिक आधार रखता है। भारतीय समाज में स्त्री को देवी शक्ति के रूप में देखा जाता है किन्तु इनकी भी स्थिति में उतार–चढ़ाव दृष्टिगत होता है। भारतीय नीतिशास्त्र के इतिहास मे जब नर एवं नारी पुत्रोत्पत्ति करते हैं, तब परिवार पूर्णता की दिशा में गतिशील माना जाता है। वैदिक काल से नर–नारी की आकांक्षा, सहकार, सौख्य और स्नेह की रही है। भारतीय पुराण तथा स्मृतिशास्त्रों में नारी धर्म की मीमांसा है। भारतीय सामाजिक जीवन को समर्पित नारी वाक्संयम, चक्षुसंयम तथा कर्मसंयम से निरन्तर प्लावित करती रही है। स्मृतिकार मनु ने– **'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता,**[1] जैसे वाक्यों से नारी के महात्म्य को बताया है।

वाल्मीकि रामायण में नारी के पावन और प्रेरक चरित्र का उदार तथा उत्कृष्ट वर्णन हुआ है। रामायण में जहाँ एक ओर सीता, पार्वती, कौशल्या, सुनयना, अनुसूया, और मन्दोदरी ने अपने चरित्र से सम्पूर्ण जनमानस को प्रभावित किया वहीं दूसरी ओर मंथरा, कैकेयी, सूर्पणखा आदि नारियों ने नारी के स्वरूप को कलंकित भी किया है। इस प्रकार नारी के देवी और कुलटा दोंनों स्वरूप का वर्णन रामायण में हुआ है।

रामायणकालीन नारी कहीं पत्नी के रूप में पति के सुख–दुःख की सहभागिनी, पातिव्रत्य धर्म में संलग्न एवं धार्मिक कृत्यों में पति की सहचारिणी थी, तो कहीं माँ के रूप में अपने दुःखों की चिन्ता न करते हुए सर्वदा सन्तान के हित साधन में तत्पर रहती थी। वहीं पुत्री के रूप में माता–पिता के आनन्द को बढ़ाने वाली थी। समाज में स्त्री के प्रति विशेष सम्मान भाव रहता था। उन्हें पुरूषों के समान ही समाज का स्थायी और गौरवशाली अंग समझा जाता था।

रामायणकालीन समाज में पुत्री के जन्म को भार नहीं समझा जाता था। पुत्री के जन्म पर भी माता–पिता को अत्यन्त प्रसन्नता होती थी। पुत्री के रूप में सीता को पाकर राजा जनक अत्यन्त प्रसन्न हुए थे।[2] किन्तु कन्या के विवाह के सम्बन्ध में वर–पक्ष की अपेक्षा कन्यापक्ष की स्थिति निम्न थी। रामायण में कहा गया है कि संसार में कन्या के पिता को वह पृथ्वी पर इन्द्र के ही समान क्यों न हो, वरपक्ष के लोगों से प्रायः अपमान उठाना पड़ता है।[3] पिता का यह परम कर्तव्य माना जाता था कि वह अपनी पुत्री के योग्य वर के हाथों में समर्पित

करे। जब तक पिता अपनी पुत्री का विवाह योग्य वर के साथ नहीं कर देता था उसे शान्ति नहीं मिलती थी।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में पत्नी को अर्धांगिनी माना गया है। वह पुरूष की सहचरी ही नहीं अपितु सहधर्मिणी भी है। रामायण में पति–पत्नी सम्बन्ध को धर्म–सम्बन्ध कहा गया है।[4]

रामायणकाल में नारी पत्नी के रूप में धर्म, अर्थ एवं काम रूप त्रिवर्ग की सिद्धि में सहायक मानी जाती थी। वह पति के वशीभूत या अनुकूल रहकर अतिथि–सत्कार आदि धर्म के पालन में सहायक होती थी, प्रेयसी रूप में काम का साधन बनती थी और पुत्रवती होकर उत्तमलोक की प्राप्ति रूप अर्थ की साधिका होती थी–

''धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके समीक्षिता धर्मफलोदयेषु।
ये यत्र सर्वे स्युरसंशयं मे भार्येव वश्याभिमता सपुत्रा।।''[5]

रामायण में नारी पति के प्रति समर्पित, आश्रित एवं सहयोगिनी के रूप में दिखाई पड़ती है। रामायण में कहा गया है कि ''पिता, पुत्र, माता तथा उसकी सखियाँ यहाँ तक कि उसका अपना शरीर भी उसका सच्चा सहायक नहीं है। नारियों के लिये लोक तथा परलोक में एकमात्र पति ही सदा आश्रय देने वाला होता है।''[6] पिता, माता, भाई, पुत्र और पुत्रवधु– ये सब पुण्यादि कर्मों का फल भोगते हुये अपने–अपने शुभाशुभ कर्म के अनुसार जीवन निर्वाह करते हैं केवल पत्नी ही अपने पति के भाग्य का अनुसरण करती है।[7] पत्नी के लिये पति ही सबसे बड़ा देवता कहा गया है–

''शुद्धात्मन् प्रेमभावाद्धि भविष्यामि विकल्मषा। भर्तारमनुगच्छन्ती भर्ता हि परदैवतम्।।''[8]

रामायणकालीन नारी के मातृ–स्वरूप को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। माँ बनने पर ही नारी पूर्ण होती है। नारी के लिये सबसे बड़ा सुख मातृत्व सुख माना गया है। श्रीराम के बनगमन के समय माता कौशल्या ने श्रीराम से कहा था कि– ''पुत्र राम! तुम्हारे बिना मुझे इस जीवन से क्या लाभ है? इन स्वजनों से, देवता तथा पितरों की पूजा तथा अमृत से भी क्या प्रयोजन है? तुम दो घड़ी भी मेरे पास रहो तो वही मेरे लिये सम्पूर्ण संसार के राज्य से भी बढ़कर सुख देने वाला है।[9]

रामायण काल में नारियाँ सुशिक्षित, धर्मपरायण, राजनीति में कुशल एवं विदुषी थी। आर्येतर नारियाँ(बानर, राक्षस) भी विदुषी थी। सुग्रीव का यह कथन द्रष्टब्य है– सुषेण की पुत्री तारा, सूक्ष्म विषयों का निर्णय करने तथा नाना उत्पातों के चिन्हों को समझने में निपुण थी। उसकी सम्मति का विपरीत परिणाम संभव नहीं। तारा ने कुपित लक्ष्मण को पौराणिक दृष्टान्त देकर शान्त किया और बाद में सीता के अनुसंधान की योजना बनायी। सुग्रीव के राज्य का संचालन एवं नीति निर्धारण तारा ही करती थी। रामायणकालीन नारी धर्मपरायण थी। उसका दैनिक जीवन कठोर धार्मिक बन्धनों में बन्ध था। पति–सेवा उनका परमधर्म था। उन्हें विभिन्न धार्मिक अनुष्ठान करने होते थे। गर्भवती महिला गर्भस्य शिशु के अच्छे संस्कारों के लिये शास्त्र प्रवचन सुनती थी। पुलस्त्य मुनि की पत्नी गर्भावस्था में वेद–पाठ श्रवण करती रहती थी, इसी कारण उनका पुत्र विश्रवा कहलाता है। धार्मिक कृत्यों में पत्नी अपने पति की सहचारिणी थी।

बिना पत्नी के किया पति का कोई भी धार्मिक अनुष्ठान सफल नहीं होता था। राम के राज्याभिषेक के समय कौशल्या को मंत्रों सहित यज्ञ में आहुति देते हुये दिखाया है। रामायण काल में स्वयंवर प्रथा, अन्तर्जातीय विवाह आदि का भी बोध होता था। उत्तरकाण्ड में अन्तर्जातीय विवाह की बढ़ती हुई प्रवृत्ति का संकेत मिलता है। क्षत्रिय ययाति और ब्राह्मण देवयानी का विवाह सम्बन्ध इस प्रवृत्ति का उदाहरण है।[10]

रामायण काल में विवाह सम्बन्धों में ज्योतिष और सामुद्रिकशास्त्र का विचार आवश्यक था। साथ ही कन्या एवं वर के लक्षणों का भी विचार किया गया जाता था। रामायण में प्राप्त कुछ वर्णनों से ज्ञात होता है कि उस युग में आर्य और अनार्य दोनों वर्गों की स्त्रियाँ पर्दा करती थी। सीता बनगमन का प्रसंग इसका प्रमाण है। राक्षसों में भी पर्दा प्रथा थी। रावण की मृत्यु पर मन्दोदरी युद्ध स्थल में विलाप करती हुई कहती है– ''स्वामी! मैं पर्दा छोड़कर नगर द्वार से पैदल चलकर प्रासाद से बाहर आयी हूँ। मुझे देखकर आप क्रुद्ध क्यों नहीं होते हैं।''[11] इससे सिद्ध होता है कि उस काल में स्त्रियाँ अवगुण्ठन तो करती थीं। परन्तु उनके भ्रमण पर प्रतिबन्ध नहीं था।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि रामायणकाल में वर्णित कौशल्या, सीता, अनुसूया मन्दोदरी का उदात्त चरित्र आज की नारी को बहुत कुछ सिखा सकता है। आज की कुछ नारी पढ़–लिखकर सुन्दर वस्त्र पहनकर वाह्यरूप से सभ्य तो हो गयी किन्तु शालीनता पवित्रता त्याग आदि गुणों से रहित होती जा रही हैं, जिससे उनके जीवन तथा उनके परिवार में सुख–शान्ति का अभाव सा होता दिखाई दे रहा है। नारियों के प्रति सम्मान की तो रामायण में पराकाष्ठा ही दिखाई देती है। एक जटायु नामक पक्षी भी स्त्री का अपमान होते हुये नहीं देख सकता था उसने भी वृद्ध होते हुये अपने प्राणों की चिन्ता न करते हुये परम शक्तिशाली रावण के साथ युद्ध किया। यह बताता है कि हमें स्त्री के सम्मान की रक्षा करनी चाहिये।

संदर्भ ग्रन्थ सूची –

1. मनुस्मृति 3/56
2. श्रीमद्वाल्मीकिकृत रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग–118, श्लोक–31–32, गीताप्रेस गोरखपुर।
3. श्रीमद्वाल्मीकिकृत रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग–118, श्लोक–35, गीताप्रेस गोरखपुर।
4. श्रीमद्वाल्मीकिकृत रामायण, बालकाण्ड, सर्ग–72, श्लोक–3, गीताप्रेस गोरखपुर।
5. श्रीमद्वाल्मीकिकृत रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग–21, श्लोक–57, गीताप्रेस गोरखपुर।
6. श्रीमद्वाल्मीकिकृत रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग–27, श्लोक–6, गीताप्रेस गोरखपुर।
7. श्रीमद्वाल्मीकिकृत रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग–27, श्लोक–4–5, गीताप्रेस गोरखपुर।
8. श्रीमद्वाल्मीकिकृत रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग–29, श्लोक–16, गीताप्रेस गोरखपुर।
9. श्रीमद्वाल्मीकिकृत रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग–21, श्लोक–53, गीताप्रेस गोरखपुर।
10. श्रीमद्वाल्मीकिकृत रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग–58, गीताप्रेस गोरखपुर।
11. श्रीमद्वाल्मीकिकृत रामायण, युद्धकाण्ड, सर्ग–111, श्लोक–61, गीताप्रेस गोरखपुर।

स्वातंत्र्योत्तर भारत सामाजिक–सांस्कृतिक परिदृश्य

आलोक रंजन श्रीवास्तव

वरिष्ठ शोध अध्येता
हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

जब हम स्वातंत्र्योत्तर युग के परिप्रेक्ष्य में बात करते हैं तो हमारे सामने 1964 से 1976 तक का वह समय आ जाता है जब हमने आजादी प्राप्त की और तदोपरांत हमारे समाज में क्षेत्रीय व राष्ट्रीय स्तर पर कई सारे बदलाव हो रहे थे, जिन्हें हम आंतरिक और बाह्य दोनों ही तौर पर महसूस भी कर रहे थे। 1947 को भारत ने अपनी आजादी को हासिल किया। देश में खुशियाँ मनाई जा रही थीं। देशभक्तों की कुर्बानी और शहीदों का खून रंग लाया था। परन्तु, मातम भी साथ लाया था। अखण्ड भारत का सपना चूर–चूर हो चुका था। देश के कई हिस्से साम्प्रदायिकता के आग में जल रहे थे। भोजन एवं अन्य आवश्यक सामग्री का अभाव हो रहा था और प्रशासनिक तंत्र के टूट कर समाप्त हो जाने का खतरा मंडरा रहा था।

14 अगस्त को आज़ादी की पूर्व संध्या पर भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरु ने संविधान सभा और भारतीय राष्ट्र को संबोधित करते हुए 'ट्रिस्ट विद डेस्टिनी' नामक अपने अविस्मरणीय भाषण में भारतीय जनता की भावनाओं को व्यक्त करते हुए कहा : ''वर्षों पहले हमने भाग्यवधू से एक प्रतिज्ञा की थी और अब वह समय आ रहा है जब हम उस प्रतिज्ञा को समग्र रूप में या पूरी तौर पर न सही, काफी दूर तक पूरा करेंगे। रात के बारह बजे जबकि दुनिया नींद की गोद में होती है, भारत नए जीवन और स्वतन्त्रता में प्रवेश करेगा।''[1]

वह स्वतंत्र भारत के पहले प्रधानमंत्री की नजरिये से बोल रहे थे। संघर्ष समाप्त हो चुका था। देश स्वतंत्र था। लेकिन भाग्यवधू के साथ की गयी वह कौन सी और किस तरह की प्रतिज्ञा थी जिसकी ओर हमारे देश के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू ने संकेत या यों कहें कि इशारा किया था।

स्वतंत्रता मिलने से 17 साल पहले 31 दिसम्बर 1921 को रात के ठीक बारह बजे एक अन्य अवसर पर जब घडियाल के घंटे नए वर्ष के आगमन की सूचना दे रहे थे, नेहरु जी ने लाहौर में रावी के तट पर एकत्रित अपार जन समुदाय के सामने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष के हैसियत से तिरंगा फहराते हुए घोषणा की थी कि स्वतंत्रता आन्दोलन का महत्वपूर्ण उद्देश्य होगा पूर्णतयः स्वराज संपन्न स्वाधीनता।

यह फैसला किया गया कि भारत के लोग 26 जनवरी 1930 को आम सभाओं में भारतीय जनता की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने की इच्छा की घोषणा करेंगे। इस दिन

अर्थात् 26 जनवरी को 'स्वतंत्रता का दिन' घोषित किया गया। उस दिन के ऐतिहासिक महत्व के कारण ही बाद में 1949 ईस्वी में जब भारत का नया गणतंत्रीय संविधान तैयार हुआ तो उसे 26 जनवरी को प्रस्तुत किया गया। तब से आज तक हर वर्ष वह दिन गणतंत्र दिवस के तौर पर मनाया जाता है।

जहाँ तक आजादी की बात है तो आजादी तो प्राप्त हुई परन्तु यह कई ढेर सारी समस्या साथ लेकर आई। जिसका समाधान तत्कालीन परिस्थितियों में जरा–सा मुश्किल नजर आ रहा था परन्तु एक कहावत है कि हर मुश्किल से मुश्किल समस्या का कोई ना कोई समाधान अवश्य होता है बस उसे एकाग्रता व तन्मयता से तलाशने की आवश्यकता भर है और समाधान खुद ब खुद हमारे सामने होगा।

किन्तु यहाँ जब हम तत्कालीन परिस्थितियों पर दृष्टिपात करते हैं तो हम पाते हैं कि समस्याएँ काफी जटिल थीं अतः जरूरी था कि उनका समाधान भी गहराई के साथ हो। तात्कालिक समस्याओं में रजवाड़ों का विलय विभाजन के साथ चले रहे साम्प्रदायिक दंगों पर नियंत्रण, पाकिस्तान से आए 60 लाख शरणार्थियों का पुनर्वास, भारत–पाकिस्तान सीमा का निर्धारण, नौकरशाही तथा कुछ अन्य सेवाओं का समाधान, लेनदारी तथा देनदारी का विभाजन, सैनिक सामग्री का विभाजन, कम्युनिस्ट विद्रोहों पर नियंत्रण, रियासतों का पुनर्गठन, भाषा सम्बन्धी समस्या एवं जनजातीय समस्याएं आदि सम्मिलित थीं।

अन्य समस्याओं में संविधान का निर्माण तथा चुनावों का आयोजन तथा विभिन्न दलों एवं कांग्रेस के कार्यक्रमों से सम्बंधित बातें, राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन एवं राष्ट्र का सुदृढ़ीकरण, तीव्र आर्थिक विकास एवं नियोजन प्रक्रिया का प्रारम्भ एवं विदेशी नीति का विकास जो भारत की स्वतंत्रता की रक्षा कर सके तथा विश्व शांति को बढ़ावा दे सके आदि प्रमुख कार्य थे।

विभाजन के पश्चात् जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य था वह था भारत एवं देशी रजवाड़ों को एक शासन के अंतर्गत लाना। औपनिवेशिक भारत में इसका लगभग 40 प्रतिशत भू–भाग छोटी और बड़ी ऐसी 56 रियासतों द्वारा घिरा था, जिस पर शासन करने वाले राजाओं को ब्रिटिश सर्वोच्चता के अंतर्गत विभिन्न प्रकार की स्वायत्तता प्राप्त थी। राष्ट्रीय अस्थाई सरकार में 27 जून 1947 ईस्वी को सरदार पटेल ने नवगठित रियासत विभाग का अतिरिक्त कार्यभार संभाल लिया। उन्हीं के अथक प्रयास व परिश्रम का परिणाम था कि आज वर्तमान में जो भारत जिसे कभी–कभी हम विविधता में एकता भी कहते हैं, वह वाकई में उन्हीं के प्रयासों से एक हो सका और इस जटिल समस्या का समाधान हो सका। वैसे भी भारत ने अभी–अभी एक ताजा–ताजा विभाजन रूपी त्रासदी को अपने आँखों के सामने घटते देखा था फिर से वह इस आंतरिक व अनेक स्तर पर होने वाले विभाजन को न तो झेल सकता था और ना ही यह देश ऐसी किसी चुनौती के लिए तैयार ही था।

भारत के लिए मुश्किलें कम नहीं थीं वरन वह चारों और से विकराल मुंह बाए खड़ी थी। तत्कालीन समस्याओं ने भारत को हर तरफ से मानो जकड़ सा लिया हो और इस जकडन से छूटने का एक मात्र तरीका था और वह था सही नेतृत्व जो की इसे समय रहते

मिला भी। परन्तु बहुत से इतिहासकार व साहित्यकार इसे नाकामी मानते हैं। उन्हें अभी भी यह लगता है कि भारत को तत्कालीन नेतृत्व से भी बेहतर नेतृत्व मिल सकता था तत्कालीन परिस्थितियों के संदर्भ में।

यह एक ऐसा दौर था जब एक ऐसे साहित्यकार और साहित्य की ज़रूरत थी जो महज कपोल कल्पना व रूमानी दुनिया में ही ना जीता हो और न ही महज खानापूर्ति एवं सुंदरियों के मोहपाश में ही फंसा हो। जरूरत थी एक सशक्त कथ्य की और उस कथ्य को सही मायनों में उकेर देने वाले शिल्प की। जिसमें कोई बनावटी पर्दा न हो और ना ही हो कोई दुराव व छिपाव। सब कुछ को उसके सही मायनों में कह देने की क्षमता हो उसमें। लोगों की वास्तविक अभिव्यक्ति को उकेर व कह देने का साहस हो। किसी प्रकार का भय या संताप ना हो।

जब रचनाकार अभिव्यक्ति करे तो मानो ऐसा लगे की वह सभी के मनोमस्तिष्क का ही प्रतिनिधित्व कर रहा हो। प्रत्येक व्यक्ति उस रचना में स्वत्व को देखे, उसमें दुःख को और साथ ही अनकहे सुख को कह देने की क्षमता भी हो। कहीं और से उसे कुछ अतिरिक्त करने की आवश्यकता ना पड़े। साहित्य ऐसा जो समाज के ही चित्तवृतियों का ही प्रतिबिम्ब हो। जिससे अयथार्थ का पूर्णतः अभाव हो। जो चीख–चीख के बता दे अंतर्मन के उन सभी संवेदनाओं को जिसे इस राष्ट्र के जनमानस ने पता नहीं कितने वर्षों से दबा के रखा है और ऐसे ही कई सारे विचारों व धारणाओं से प्रभावित होकर हमारा साहित्य समाज के लिए प्रस्फुटित हुआ।

जब हम समाज की बात कर रहे हैं तो समाज से जुड़े हुए विचार सहसा हमारे दिमाग में आ ही जाते हैं जो समाज को प्रगति के पथ पर ले जाने को तत्पर थे। समाजशास्त्रीय समीक्षा सामाजिक संबंधों के परिप्रेक्ष्य में, सामाजिक जीवन की प्रक्रिया के अंतर्गत, साहित्य के विभिन्न पक्षों का आख्यान सामाजिक क्रिया के रूप में करती है। समाजशास्त्रियों के दृष्टि में साहित्य का स्वरुप संस्थात्मक है। जिस प्रकार अन्य सामाजिक संस्थाएं अपने सदस्यों को दिशा निर्देश करती हैं ठीक वही स्थिति यहाँ भी थी।

उन्नीसवीं सदी के दौरान ब्रिटेन में नए हितों और नए विचारों का उदय हुआ था। औद्योगिक क्रांन्ति अठारवीं शताब्दी के मध्य में आरम्भ हुई थी। जिसके फलस्वरूप औद्योगिक पूंजीवाद का विकास ब्रिटिश समाज के सभी पहलुओं को तेजी से बदल रहा था। उदीयमान औद्योगिक हितों ने भारत को अपनी वस्तुओं के लिए बड़े बाजार के रूप में बदलना चाहा। ऐसा केवल शान्ति बनाए रखने और नीति के जरिये नहीं हो सकता था बल्कि भारतीय समाज के आंशिक रूपांतरण और आधुनिकीकरण की आवश्यकता थी और इस प्रकार इतिहासकार थाम्पसन और गैरट के शब्दों में, ''पुरानी बटमारी की मनोदशा और तरीके आधुनिक उद्योगवाद तथा पूंजीवाद की मनोदशा तथा तरीके में बदल गए।''[2]

विज्ञान और प्रोद्यौगिकी ने भी मानवीय प्रगति की नयी प्रत्याशायें उत्पन्न कर दीं। अठारवीं और उन्नीसवीं सदी के दौरान ब्रिटेन तथा यूरोप में नए विचारों का एक नया ज्वार देखा गया जिसने भारतीय समस्याओं के प्रति ब्रिटिश को प्रभावित किया। सारे यूरोप में

सोच–विचार तौर तरीकों और नैतिकता के नए दृष्टिकोण सामने आ रहे थे। 1789 की महा फ्रांसिसी क्रांति ने अपने स्वतन्त्रता, समता और बंधुत्व के संदेश द्वारा शक्तिशाली जनतांत्रिक भावनाएं उत्पन्न कीं और आधुनिक राष्ट्रीयता की शक्ति को फैलाया। नयी प्रवृत्ति का चिंतन के क्षेत्र में प्रतिनिधित्व बेकन, लाक, वाल्टेयर, रूसो, कांट, एडम स्मिथ और बेंथम तथा साहित्य के क्षेत्र में वर्डसवर्थ, वायरन, शैली और चार्ल्स डिकेंस ने किया।

नया चिंतन अठारवीं शताब्दी की बौद्धिक क्रांति, फ्रांसीसी क्रांन्ति और औद्योगिक क्रांति से उत्पन्न हुआ था स्वभावतया इस नए चिंतन का प्रभाव भारत में महसूस किया गया तथा उसने सरकार की शासकीय धारणाओं को भी कुछ हद तक प्रभावित किया।

नए चिंतन की तीन मुख्य विशेषताएं थीं : विवेकशीलता या तर्क और विज्ञान में विश्वास, मानवतावाद या मनुष्य के प्रति प्रेम और मानव की प्रगति करने की क्षमता में आस्था और विवेकशील वैज्ञानिक दृष्टिकोण इस बात का सूचक था की केवल वही चीज़ सही मानी जाएगी जो मानव तर्क के अनुकूल हो और व्यवहार में जिसकी परीक्षा की जा सके।

सत्रहवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं सदियों की वैज्ञानिक प्रगति तथा उद्योग में विज्ञान के प्रयोग से प्राप्त उत्पादन की विशाल शक्तियाँ मानवीय तर्कशक्ति का प्रकट प्रमाण थीं। मानवतावाद की धारणा पर आधारित प्रत्येक मानव प्राणी अपने आप ही साध्य है और इसी रूप में उसका सम्मान किया जाना चाहिए और उसे महत्व दिया जाना चाहिए। किसी भी मनुष्य को यह अधिकार नहीं हो सकता की वह दूसरे मनुष्य को अपने सुख का माध्यम समझे। मानवतावादी दृष्टिकोण ने व्यक्तिवाद, उदारतावाद और समाजवाद के सिद्धांतों को जन्म दिया। प्रगति के सिद्धांत के अनुसार सभी समाजों को समय के साथ अवश्य बदलना होता है। कोई भी चीज़ ना जड़ था और न ही जड़ हो सकती है। इसके अलावा मनुष्य में प्रकृति और समाज को विवेकशील तथा उचित रूपरेखा के अनुसार फिर से ढालने की क्षमता है।

यूरोप में चिंतन की नयी लहरों का पुराने दृष्टिकोण से टकराव हुआ। भारत सम्बन्धी नीति निर्धारित करने वालों तथा भारतीय प्रशासन चलाने वालों के बीच दृष्टिकोण कहा जाता था। यह दृष्टिकोण भारत में यथासंभव कम से कम परिवर्तन करने का पक्षपाती था। ''इस दृष्टिकोण के शुरू के काल में प्रतिनिधि वारेन हेस्टिंग और प्रसिद्ध लेखक तथा सांसद एडमंड बर्क थे और बाद के प्रतिनिधि प्रसिद्ध अफसर मुनरो, मेलकम, एल्फिन्स्टन और मेटकाफ थे।''[3]

रुढ़िवादियों का कहना था कि भारतीय सभ्यता यूरोपीय सभ्यता से भिन्न थी मगर अवश्यम्भावी रूप से उससे निकृष्ट नहीं था। उनमें से अनेक भारतीय दर्शन और संस्कृति की इज्जत और प्रशंसा करते थे। यह महसूस करते हुए की कुछ पश्चिमी विचारों और रिवाजों को लागू करना जरुरी हो सकता है उन्होंने प्रस्ताव किया कि उन्हें बहुत सावधानीपूर्वक और धीरे–धीरे लागू किया जाये। सामाजिक स्थिरता को सर्वोपरि रखते हुए उन्होंने तेज़ बदलाव के किसी भी कार्यक्रम का विरोध किया।

उन्होंने महसूस किया की व्यापक या जल्दबाजी में किये गए परिवर्तन देश में तीब्र प्रतिक्रिया उत्पन्न करेंगे। इंग्लैण्ड और ब्रिटिश शासन के बिलकुल अंत तक भारत में रुढ़िवादी

दृष्टिकोण प्रभावशाली बना रहा। वस्तुतः भारत में ब्रिटिश अफसरों का बहुमत आमतौर से रुढ़िवादी दृष्टिकोण वाला था।

रुढ़िवादी दृष्टिकोण की जगह पर 1800 तक बड़ी तेजी से नया दृष्टिकोण आने लगा था जो भारतीय समाज और संस्कृति का कटु आलोचक था। भारतीय समाज और सभ्यता को गतिहीन कहकर उसकी निंदा की गयी और उसे घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा। भारतीय रीति–रिवाजों को असभ्यता का प्रतीक माना जाने लगा। भारतीय संस्थाओं को भ्रष्ट व पतनोन्मुख बताया जाने लगा तथा भारतीय चिंतन को संकीर्ण और अवैज्ञानिक कहा गया। ब्रिटेन के अधिकांश अफसरों और लेखकों तथा राजनेताओं ने इस आलोचनात्मक दृष्टि का प्रयोग भारत की राजनीतिक और आर्थिक दासता को उचित बतलाने तथा यह घोषित करने के लिए किया कि वह उन्नति करने योग्य नहीं है और इसलिए उसे स्थायी रूप से ब्रिटिश संरक्षण में रहना चाहिए।

परन्तु थोड़े से अंग्रेज जिनकी सहानुभूति थोड़े बहुत मात्रा में भारतीयों के साथ थी उन्होंने भारत को आलोचना और साम्राज्यवादी दृष्टिकोण से बाहर किया। उन्हें रेडिकल्स भी कहा जाता था। जिसका मतलब होता है आमूलचूल परिवर्तनवादी। उन्होंने विकसित मानवतावादी और विवेकशील चिंतन को भारतीय स्थिति पर लागू करने का प्रयास किया। विवेक बुद्धि के सिद्धांत के फलस्वरूप उनकी धारणा थी की यह आवश्यक नहीं है कि भारत हमेशा पतित बना रहे क्योंकि विवेक बुद्धि और विज्ञान के रास्ते चलकर सभी समाजों में उन्नति करने की क्षमता है।

मानवतावादी चिंतन ने उनके अन्दर भारत की जनता की दशा सुधारने का जज्बा पैदा किया। उन्नति के सिद्धांत ने उनमें यह विश्वास पैदा किया कि भारतीयों की दशा अवश्य सुधरेगी। मानवतावादी दृष्टिकोणों ने उनमें सभी के प्रति समान व्यवहार और विचार प्रस्तुत करने को प्रेरित किया। इस प्रकार ब्रिटिश समाज के श्रेष्ठतर तत्वों का प्रतिनिधित्व करने वाले रेडिकल्स ने भारत को विज्ञान तथा मानवतावाद के आधुनिक प्रगतिशील संसार का भाग बनाना चाहा। उनके अनुसार आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान, दर्शन और साहित्य को अपनाकर वस्तुतः व्यापक और नए तरीके से परिवर्तन के जरिये भारत की कुरुतियों का निराकरण हो सकता है। उन्नीसवीं सदी के तीसरे दशक में भारत आने वाले कुछ अफसर भी रेडिकल्स दृष्टिकोण से गंभीर रूप से प्रभावित थे। यही नहीं, 1830 के बाद इंग्लैण्ड में सुधारक भी सत्तारूढ़ थे। प्रगतिवाद में प्रगति शब्द अंग्रेजी के प्रोग्रेस का हिंदी रूपांतरण है जिसका अर्थ है आगे बढ़ना, उन्नति करना साथ ही साथ रुढ़ियों को भी तोड़ना जो खासकर हमारे भारतीय समाज में घर कर गये थे। जिन्हें ऐसे ही प्रगतिवादी दृष्टिकोणों से दूर किया जा सकता था। यहाँ एक शब्द और आया है और वह है वाद जिसका अर्थ है विचारधारा अर्थात एक ऐसी विचारधारा जो समाज को रुढ़ियों के जकड़न से छुड़ाकर आगे की ओर उन्नत दिशा में ले जाने को तत्पर थी। यहाँ यह भी कह देना अत्यंत आवश्यक है कि प्रगतिवाद कोई आकस्मिक घटना नहीं थी वरन वह तत्कालीन समय की परिस्थितियों व देशकाल की उपज थी।

आजादी से पूर्व की दशा यह थी कि ब्रिटिश प्रशासन सदैव भारतीयों के लिए सख्त बनी रही कतिपय कुछ घटनाओं को छोड़ दें तो। जहाँ तक भारत के प्रति ईमानदार अफसरों की बात करें तो उनकी संख्या ना के बराबर ही थी जिनका प्रभाव भी नगण्य ही था। बिटिश भारत में शासक तत्व शोषण ही बने रहे। वे नए विचारों को तभी ग्रहण करते और समाजवादी सुधारवादी उपायों को तभी और उसी हद तक लागू करते थे जब व्यापारिक हितों और मुनाफे की प्रवृत्तियों से वे नहीं टकराते थे अर्थात् स्वहित सर्वोपरि थी। दूसरे शब्दों में एक आत्म–तुष्टिकरण की नीति के तहत कार्य हो रहा था। खुद का पेट भरा जा रहा था और बीच–बीच में निवाले के कुछ टुकड़े भारतीयों को भी फेंक दिए जाते थे। जिससे उन्हें यह एहसास होता रहे कि ब्रिटिशर्स उनके हितैषी हैं और वे ही उनका देखभाल कर सकते थे और वे ही भारत के प्रशासन को चला सकते थे और सभी तुच्छ भिखारियों के समान थे। भारत का आधुनिकीकरण उस हद तक ही हो सकता था जिससे की अपेक्षाकृत आसानी से और पूरे तौर पर ब्रिटिश भारत के संसाधनों का अपने हित में शोषण कर सके। इस प्रकार भारत के आधुनिकीकरण को अनेक अंग्रेज अधिकारियों, व्यवसायियों और राजनेताओं ने स्वीकार कर लिया था क्यूँकि हिन्दुस्तानियों को ब्रिटिश वस्तुओं का बेहतर ग्राहक बनाना था तथा उन्हें विदेशी शासन स्वीकार करने के लिए तैयार करना था। वास्तव में बहुत से रेडिकल्स भारत सम्बन्धी नीति पर विचार करने में अब अपने विश्वासों को भूल गए। जैसा की उन्होंने ब्रिटेन में किया उस तरह जनतांत्रिक सरकार की स्थापना के लिए प्रयास करने के बदले उन्होंने भारत में एक अपेक्षाकृत अधिक सत्तावादी शासन की मांग की जिसे उन्होंने पितृसत्तावादी कहा।

इस दृष्टि से वे रुढ़िवादियों के साथ थे। रुढ़िवादी भी पितृसत्तावाद के कट्टर समर्थक थे जिसके अंतर्गत भारतीय जनता के साथ बच्चों जैसा व्यवहार किया जायेगा और उन्हें प्रशासन से अलग रखा जायेगा। भारत स्थित ब्रिटिश प्रशासकों की मूल दुविधा यही थी कि कुछ सीमा तक आधुनिकरण के बिना भारत में ब्रिटिश हितों को नहीं साधा जा सकता था। परन्तु पूर्ण आधुनिकीकरण ऐसी शक्तियों को जन्म देता जो उनके हितों के विरुद्ध जाती और काफी आगे चलकर देश में ब्रिटिश प्रभुत्व के लिए खतरे पैदा कर देती। इसलिए उन्हें आंशिक आधुनिकीकरण की अत्यंत सावधानी से संतुलित नीति अपनानी पड़ी। इस नीति का मतलब था कि कुछ क्षेत्रों में आधुनिकरण करना और अन्य क्षेत्रों में उसके रास्ते में रोड़े अटकाना या उसे नहीं होने देना। दूसरे शब्दों, आधुनिकरण को भी उपनिवेशवादी सीमा के भीतर रहना था और उपनिवेशवाद को बढ़ावा देना था।

''ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आर्डिनेंस पर केदारनाथ अग्रवाल की व्यंग्य कविता कितनी कलात्मक है– 'कागजी घोड़े विदेशी/हिनहिनाते, टाप रखते/ध्वंस करते गाँव बस्ती/धूल धरती की उड़ाते/चाल मारु चल रहे हैं/बेतहाशा बढ़ रहे हैं।' इसी तरह बुन्देलखण्ड के महाजन का चित्र खींचते हुए केदार जी ने लिखा : 'गौरव के गोबर गणेश सा, नागमुखी पैतृक संपत्ति की थैली खोले।' आजादी के बाद स्वदेशी शासकों के दमन नीति पर व्यंग्य करते हुए शंकर शैलेन्द्र ने लिखा था–

भगतसिंह इस बार न लेना क्या भारतवासी की

देशभक्ति के लिए आज भी सजा मिलेगी फांसी की
यदि जनता की बात करोगे, तुम गद्दार कहाओगे
बम्ब संब की छोडो, भाषण दिया की पकडे जाओगे
निकला है कानून नया चुटकी बजते बांह जाओगे
कांग्रेस का हुक्म, जरूरत क्या वारंट तलाशी की''[4]

गोरा बादल के छद्मनाम से वीरेश्वर सिंह विरेश ने अनेक व्यंग्य कविताएँ लिखीं थीं। वैवेल योजना के अधीन स्थापित सन् 46 की अस्थायी केन्द्र सरकार के उपाध्यक्ष पंडित नेहरु थे। उस सरकार के चरित्र को अर्ध औपनिवेशिक करार देते हुए गोरा बादल ने लिखा :

तरुवर से एक तिरीया उतरी उसने बहुत रिझाया
बाप के उसके नाम जो पूछा वैवेल नाम बताया
वैवेल नाम बताया यारों बड़ी अजूबी नार
आधी गोरी, आधी काली दिल्ली की सरकार।''[5]

''सरकार के आडम्बर, जातिप्रथा, रुढ़ि–रीति, प्रतिक्रियावादी राजनीति, सामंत–महाजन, पूंजीपति, ब्रिटिश सरकार, कांग्रेस पार्टी, झूठे समाजवाद, साहित्य में प्राचीनता के पक्षधर–सब पर प्रगतिशलील कवियों ने व्यंग्य किये। प्रगतिशील काव्य में व्यंग्य रचनाओं का अपना अलग महत्व है। प्रगतिवाद की व्यंग्यात्मक शैली का सूत्र आगे चलकर प्रयोगवादियों ने पकड़ा और उसे व्यक्तिवादी रंग में रंगकर विकसित किया।''[6]

भारतीय समाज को एक नयी दिशा व दशा देने में प्रगतिवादियों की एक महती भूमिका है उन्हें जात–पात, रुढियों के बंधन से मुक्त कर जीवन के नए आयामों को उनके समक्ष लाकर पटक दिया और एक नयी शुरुआत की ओर उन्हें अग्रसर किया। जिससे वे अपना आंतरिक और बाहरी परिष्कार कर सकें। जिससे वो समाज को एक नयी और सुव्यवस्थित दिशा दे सकें।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. पांडे, एस.के.–आधुनिक भारत, प्रयाग अकादमी पब्लिकेशन, 2014 नया संशोधित संस्करण, पृष्ठ संख्या–431
2. चन्द्र, बिपिन–आधुनिक भारत, एन सी ई आर टी द्वारा प्रकाशित, पुनर्मुद्रण मार्च 2005, पृष्ठ संख्या–89
3. चन्द्र बिपिन–आधुनिक भारत, एन सी अई आर टी द्वारा प्रकाशित, पुनर्मुद्रण मार्च 2005, पृष्ठ संख्या–90
4. अवस्थी, रेखा–प्रगतिवाद और समान्तर साहित्य, राजकमल प्रकाशन प्र.ली., प्रथम संस्करण 2012, पृष्ठ संख्या–134–135
5. वही, पृष्ठ संख्या–135
6. वही, पृष्ठ संख्या–135

काव्य लक्षणों का समीक्षात्मक अध्ययन

करूणेश पाण्डेय

शोधछात्र–संस्कृत विभाग
लखनऊ वि0 वि0
लखनऊ

संस्कृत वाङ्मय सर्वप्राचीन माना जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र का अद्भुत एवं गौरवशाली इतिहास संस्कृत साहित्य के ग्रंथों में ही निगूढ़ है, जिसे प्रस्फुटित करने के लिए निरन्तर अनुसंधान की आवश्यकता है। यह संस्कृत साहित्य के सभी अंगों तथा प्रत्यंगों पर होना चाहिए। संस्कृत साहित्य के ग्रंथों के वास्तविक अनुशीलन हेतु काव्यशास्त्र के विवेचन की महती भूमिका प्रतीत होती है। काव्यशास्त्र के महत्त्वपूर्ण भागों का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि काव्यलक्षण, काव्यभेद, काव्यप्रयोजन, रस एवं अलंकार आदि महत्त्वशाली है। साधारणतया उपर्युक्त समस्त काव्यशास्त्रीय भागों का योगदान संस्कृत साहित्य के ग्रंथों के तात्त्विक विवेचन हेतु आवश्यक है। परन्तु इसमें 'काव्यलक्षण' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि प्रायः सभी आचार्यों ने काव्य को परिभाषित करने का प्रयास किया है। अतः काव्य को सम्यकतया समझने हेतु काव्यलक्षणों का विशद विवेचन आवश्यक है।

काव्यशास्त्र में कवि एवं काव्य बड़े व्यापक शब्द हैं। भारतीय समालोचकों ने कवि को प्रजापति की पदवी से विभूषित किया है– **''अपारे काव्य संसारे कविरेकः प्रजापतिः**
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।।''[1]

महावैयाकरण श्री भानुदीक्षित ने कवि शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है– ''कवते श्लोकान् ग्रथते वर्णयति वा कविः'' अर्थात् वर्णन करने वाले को कवि कहते हैं और ''कवेर्भावः कर्म वा काव्यम्'' अर्थात् कवि के भाव या कर्म को काव्य कहते हैं।

काव्य शरीर की रचना 'शब्द' और 'अर्थ' से होती है। ये दोनों परस्पर सम्पृक्त रूप में रहते हैं। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं हो सकता। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। अतएव महाकवि कालिदास के प्रस्तुत श्लोक में शब्द और अर्थ की एकता दृष्टव्य है–

''वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।।''[2]

इस प्रकार शब्द एवं अर्थ का अटूट संबन्ध है। शब्द तथा अर्थ से काव्य बनता है परन्तु काव्यलक्षण के सम्बन्ध में सभी आचार्यों का मतैक्य नहीं है। कोई अलंकार को काव्यात्मा मानता है, कोई रीति को, तो कोई रस को काव्यात्मा मानता है। इस प्रकार प्रायः सभी आचार्यों ने अपने–अपने काव्यलक्षण प्रस्तुत किए हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य को परिभाषित करने का प्रथम प्रयास 'अग्निपुराण' में किया गया है। जिसके अनुसार काव्य का लक्षण इस प्रकार है– **''संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्नापदावली**
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम्।।''[3] **–अग्निपुराण**

नाटक को काव्य का एक रूप मानने से भरतमुनि का नाट्यशास्त्र सबसे प्रथम काव्यशास्त्र का एक ग्रंथ ठहरता है। नाट्यशास्त्र में काव्य का कोई लक्षण नहीं दिया गया है। परन्तु नाटक में काव्य तत्त्व लाने वाली बातों का समावेश है। आचार्य भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में काव्य की स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है–

मृदुललित पदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनम्। जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्योज्यम्।।
बहुरसकृतमार्ग संधिसंधानयुक्तम्। स भवति शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम्।।[3] –नाट्यशास्त्र

अग्निपुराण के पश्चात् काव्यालंकार में भामह की परिभाषा व्यापक एवं सारगर्भित है–

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्विधा संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा।।[3]

'शब्द' एवं 'अर्थ' का संयोग काव्य है, यह लक्षण अत्यन्त व्यापक है क्योंकि इसके क्षेत्र में काव्य के अतिरिक्त शास्त्र, इतिहास, वार्तालाप आदि सभी आ जाते हैं। इस कारण इसमें अतिव्याप्ति दोष है। निश्चित है कि शास्त्रादि में अर्थ ही महत्त्व का होता है, शब्द का नहीं पर भामह के अनुसार काव्य में शब्द एवं अर्थ दोनों का महत्त्व होता है। फिर भी काव्य के स्वरूप का स्पष्टीकरण नहीं होता।

आचार्य दण्डी के अनुसार अलंकृत शब्दार्थ युगल ही काव्य का स्वरूप है। उनके अनुसार ''शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'' इस प्रकार भामह एवं दण्डी ने अलंकार का व्यापक अर्थ ग्रहण किया है और इसीलिए इन्होंने रस तक को रसवत् अलंकारों में समाहित कर लिया है। दण्डी ने काव्यादर्श में कहा है– ''काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकरान् प्रचक्षते''। वस्तुतः अलंकार की वास्तविक स्थिति का विश्लेषण हमें वामनकृत 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' में प्राप्त होता है। जिसके अन्तर्गत अलंकार के दो स्वरूप स्पष्ट हुए हैं एक तो काव्य के समस्त सौंदर्य के रूप में और दूसरा इसी सौन्दर्य के उपकरण के रूप में–

''काव्यं ग्राह्यमलंकारात्'' / ''सौन्दर्यमलंकारः'' / ''स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्''[3]

इस प्रकार वामन ने अलंकार का अर्थ सौन्दर्य किया है। इसी सौन्दर्य के कारण काव्य उपादेय होता है तथा वास्तव में माधुर्यादि गुण और सौन्दर्य से अलंकृत 'शब्द' और 'अर्थ' ही काव्य है।

ध्वनिवादी आचार्यों की दृष्टि विशेष रूप से काव्य की आत्मा की ओर रही। काव्य के शरीर रूप में प्रसिद्धि की ओर उनका ध्यान न्यून रहा। आचार्य आनन्द वर्धन के **'काव्यस्य आत्मा ध्वनिः' 'शब्दार्थ शरीरं तावत्काव्यम्,' सहृदयहृदयाह्लादि–शब्दार्थमयत्वमेव, काव्यलक्षणम्'[4]** आदि के द्वारा काव्य की आत्मा ध्वनि आह्लाद अथवा रस की ओर आलोचकों का ध्यान गया किन्तु यह लक्षण भी विशेषतया सामाजिक की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहा है। काव्य का ऐसा स्वरूप रस के द्वारा प्रस्तुत न किया जा सका जो सर्वांगीण हो।

वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक ने यद्यपि ''वक्रोक्तिः काव्यस्य जीवितम्'' यह मानते हुए उसके सभी अंगो की ओर ध्यान दिया। **शब्दार्थौ सहितौ वक्र–कविव्यापारशालिनि**
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।।[5]

तदन्तर काव्यलक्षण में समन्वय की प्रवृत्ति बढ़ती रही और भोजराज ने काव्य स्वरूप बतलाया– **अदोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम् रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीति च विन्दिति।।[6]**

दूसरी ओर क्षेमेन्द्र ने औचित्य को ही काव्य का प्राण माना ''औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्''। इन सभी लक्षणों का समन्वित रूप आचार्य मम्मट के काव्य स्वरूप में दृष्टिगत होता है– **''तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृतिः पुनः क्वापि।''**[7]

ऐसे शब्द एवं अर्थ काव्य हैं, जो दोषों से रहित हो तथा (माधुर्यादि) गुणो से युक्त हो और चाहे कहीं (स्फुट) अलंकार रहित भी हो।

इस परिभाषा में मम्मट ने शब्दार्थौ के तीन विशेषण दिए हैं– 'अदोषौ' 'सगुणौ' एवं 'अनलंकृतिः' पुनः क्वापि'। जिस पर परवर्ती आचार्य विश्वनाथ, जयदेव एवं पं0 राजजगन्नाथ ने आपत्ति की है। जगन्नाथ ने विशेष्य पद 'शब्दार्थौ' पर आपत्ति की है। वस्तुतः मम्मट का काव्य लक्षण आदर्श काव्य के स्वरूप का परिचायक है। रस को लक्ष्य करके प्रवृत्त होने वाला रचनाकार गुण की ओर दृष्टिपात् करता ही है और इसके साथ दोष से बचने का प्रयास भी करता है।

आचार्य मम्मट के काव्य लक्षण को खण्डित करते हुए साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ रस को काव्यात्मा के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं– **''वाक्यं रसात्मकं काव्यम्''** इस लक्षण में काव्य की रसात्मकता पर बल है और 'काव्य' को काव्य कहा है, जबकि अब तक 'शब्दार्थ' को काव्य कहा गया है।

पं0 राजजगन्नाथ ने विश्वनाथ की परिभाषा को अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त बतलाया और कहा कि जिस काव्य में वस्तु एवं अलंकार प्रधान है वहाँ यह लक्षण समन्वित नहीं हो सकता। इस प्रकार पं0 राजजगन्नाथ ने अपना काव्यलक्षण निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया–

''रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्''[8]

अर्थात् 'रमणीय अर्थ' का प्रतिपादन करने वाला 'शब्द' काव्य है। इस लक्षण में आपत्ति यह है कि काव्य के अन्तर्गत शब्द में सदैव अर्थ की रमणीयता नहीं होती अपितु पूरे 'वाक्य' से रमणीयता प्रतिपादित होती है। शब्द वाक्य की सबसे छोटी इकाई है। अतएव शब्द के स्थान पर वाक्य प्रस्तुत करना चाहिए था। कभी–कभी एक शब्द की उपयुक्तता सिद्ध की जा सकती है, परन्तु पूर्णार्थ द्योतक वाक्य ही होता है।

संस्कृत साहित्याचार्यों की भाँति पाश्चात्य काव्य शास्त्रियों ने भी काव्य लक्षण प्रस्तुत किया है जिसमें 'कालरिज' का काव्य लक्षण पं0 राजजगन्नाथ के काव्य लक्षण के अत्यन्त समीप है–"Poetry is the best word in their best order." अर्थात् सर्वोत्तम शब्द अपने सर्वोत्तम कृति में कविता है। प्रश्न उठता है कि सर्वोत्तम शब्द कौन से हैं एवं उनका सर्वोत्तम क्रम क्या है? वस्तुतः काव्य को वे अनुपम वरदान रूप में प्रस्तुत करते हैं जो प्रत्येक वस्तु के आवृत्त सौन्दर्यान्वेषण की तीव्र आकांक्षा प्रस्तुत करता है अतः यह लक्षण उपयुक्त प्रतीत नही होता है।

वड्र्सवर्थ ने काव्य की व्याख्या करते हुए भावना पक्ष को प्रस्तुत किया है– "Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings its takes origin form emotions recollected in tranquility." अर्थात् शांति के क्षणों में एकत्रित संवेगों से उत्पन्न सशक्त अनुभूतियों का प्रवाह ही काव्य है। वस्तुतः वड्र्सवर्थ की यह परिभाषा तथ्यपूर्ण है क्योंकि यह भावनुभूति एवं अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को स्पष्ट करती है इस लक्षण पर आपत्ति है कि शांति के समय सभी

अपने मनोवेगों का स्मरण करते हैं एवं प्रबल भावों को प्रकट भी करते हैं। इस परिभाषा में दोष यह है कि यहाँ अभिव्यक्ति कला एवं उसके प्रयोगों का उल्लेख नहीं है। अतः इससे भी सहमत होना समीचीन प्रतीत नहीं होता।

आधुनिक कवियों की कुछ धारणाएँ पाश्चात्य लक्षणों पर तो कुछ संस्कृत साहित्य के लक्षणों पर आश्रित हैं, परन्तु इन धारणाओं में मौलिकता का अभाव नहीं है। हिन्दी सहित्याचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में **"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्दविधान करती है वही कविता है। इस प्रकार कविता जीवन एवं जगत् की अभिव्यक्ति है।"**[9] रामचन्द्र शुक्ल जी के विचार से अव्यक्त की अभिव्यक्ति जगत् है और इस प्रकार कविता अव्यक्त की अभिव्यक्ति हुई। इस लक्षण से कविता में रहने वाली नव्यता एवं विविधता का संकेत मिलता है जैसा कि महाकवि माघ ने कहा है–

"क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेवं रूपं रमणीयतायाः।"[10]

परन्तु लक्षण की दृष्टि से रामचन्द्र शुक्ल जी का कथन समीचीन नहीं प्रतीत होता है। इसका महत्त्व उद्देश्य की दृष्टि से अवश्य है। परन्तु जीवन और जगत् की समस्त अभिव्यक्ति काव्य नहीं है। अतः अतिव्याप्ति दोष है।

उपर्युक्त काव्य लक्षणों पर दृष्टिपात् करने पर पता चलता है कि काव्याचार्यों में कतिपय ने पं0 राजजगन्नाथ के काव्य लक्षण को श्रेष्ठ घोषित किया तो कतिपय ने मम्मट के काव्य लक्षण को। जो काव्य के प्रत्येक अंगों को समवेत रूप में प्रस्तुत करता है। किन्तु किस काव्यलक्षण को सर्वमान्य माना जाए, यह एक विचारणीय प्रश्न है, फिर भी काव्य लक्षणों के समीक्षात्मक अध्ययन से हमें आचार्य मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य लक्षण सर्वोत्तम प्रतीत होता है। इस विवेचना से इतना तो स्पष्ट है कि काव्य के व्यापक स्वरूप को परिभाषा की परिधि में बाँधना असंम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है। ऐसी परिस्थिति में इस संदर्भ में निरन्तर अनुसंधान की महती आवश्यकता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची –

1. काव्यप्रकाश पृ0 5
2. रघुवंशमहाकाव्य प्रथम श्लोक
3. काव्यप्रकाश की भूमिका
4. ध्वन्यालोक पृ0 5
5. वक्रोक्तिजीवितम्
6. सरस्वती कण्ठाभरण
7. काव्यप्रकाश पृ0 19
8. रसगंगाधर पृ0 10
9. चिन्तामणि (कविता क्या है)
10. शिशुपालवधम् 4–17
11. पाश्चात्य काव्यशास्त्र– देवेन्द्र शर्मा
12. भारतीय काव्यशास्त्र– निशा अग्रवाल

कवि प्रदीप के फिल्मी गीत : कथ्य एवं भाषा

अजय कुमार तिवारी

अध्यापक, जवाहर नवोदय विद्यालय
पश्चिम सिंयांग (अरूणाचल प्रदेश)

देशभक्ति के गीतों के अमर प्रणेता के रूप में जितना यश गीतकार प्रदीप ने अर्जित किया उतना शायद ही किसी दूसरे गीतकार ने किया हो। उनके रचे देशभक्ति के गीतों ने जन–मानस पर एक अमिट छाप छोडी है।

''प्रदीप राष्ट्र की अस्मिता, गौरव, गरिमा, ओज और उर्जा को प्राण देने वाले एकमात्र गीतकार थे। अन्य गीतकारों ने जहाँ आर्थोपार्जन के लोभ में नारी देह को विषयबस्तु बनाकर घोर श्रृंगारिक गीतों की रचना की, वही प्रदीप ने धन के लोभ को ठुकराकर राष्ट्र के चरणों में पुष्पांजलि अर्पित की।''

कवि प्रदीप का पूरा नाम रामचन्द्र द्विवेदी 'प्रदीप' था। इनका जन्म 6 फरवरी 1915 को मध्य प्रदेश के बड़नागर (जिला उज्जैन) में हुआ। उनका जन्म एक मध्यवर्गीय औदीच्यं (गुजराती) ब्राह्मण कुल में हुआ। रतलाम में प्रारम्भिक शिक्षा व स्नातक की पढ़ाई इलाहाबाद से पूरी की। उसके बाद दो साल का शिक्षक प्रशिक्षण भी लिया। शुरू से उन्हें कविताएँ लिखने और गाने का शौक था। वे हिन्दी कवि महाप्राण निराला की कविता से प्रभावित थे।

''प्रेमचन्द्र ने लिखा है कि 'निराला' ने एक बार 'माधुरी' नामक पत्रिका में एक लेख में नवीन कवि 'प्रदीप' शीर्षक से लिखा। निराला ने ही रामचन्द्र द्विवेदी का नाम बदलकर 'प्रदीप' रख दिया। परन्तु स्वयं कवि ने नही बतलाया कि उनका नाम किसने बदला। हिमांशु राय ने संकेत किया है कि फिल्मी दुनिया में रामचन्द्र द्विवेदी जैसा पंडिताई नाम नही चलेगा, प्रदीप उपनाम लगाइये, बस तभी से रामचन्द्र द्विवेदी का नामकरण प्रदीप हो गया।''[3] ''बॉम्बे टॉकीज के हिमांशु राय ने उनकी करिश्माई गीतकार की प्रतिभा को सौपा। वे ठेठ भारतीय सौधर्म एवं मिजाज के कवि थे। कवि प्रदीप के पास भारत बनाने का एक सपना था।''[4]

''फिल्म के क्षेत्र में जाने का प्रदीप का कोई उद्देश्य नहीं था और न ही कोई ऐसी कल्पना उन्होंने की थी। उनकी एक आकांक्षा अवश्य थी– अध्यापक बनने की। परन्तु भाग्य को पहले से किसने देखा? प्रदीप जी अध्यापक न बन सके, फिल्मी गीतकार बन गये। यह एक संयोग की बात है।''[5]

1938 में प्रदीप चित्रकार मित्र रावल के साथ मुबई आये, दूरदर्शन के राष्ट्रीय चैनल पर (7,12.2003, रविवार, रात 10.00) साक्षात्कार देते हुए स्वयं प्रदीप ने कहा था कि– ''मैं छायावाद को पढ़ा करता था, कवि सम्मेलन का लोकप्रिय कवि बना, बच्चन के साथ–साथ

कवि सम्मेलन में जाया करता, फिर चित्रकार मित्र रावल के साथ बम्बई आया। वहाँ हिमांशु राय से मुलाकात हुई।''[6]

''एक बार मुम्बई के एक उपनगर विले पार्ले के स्कूल में उत्सव हुआ। प्रदीप जी वहाँ जाकर कविता पाठ करने का अवसर मिला। देवयोग से, उस समारोह में बम्बई टॉकीज के प्रोडक्शन कन्ट्रोंलर श्री एन0आर0 आचार्य भी उपस्थित थे। प्रदीप जी के कण्ठ और आकर्षक गायन शैली से वे बड़े प्रभावित हुए। तुरन्त उन्हें लेकर वे बम्बई टॉकीज के प्रधान हिमांशु राय के पास पहुॅचे और प्रदीप जी का उनसे परिचय कराया। यद्यपि व्यक्तित्व की परीक्षा में प्रदीप जी असफल रहे, पर स्वर की परीक्षा में उन्हें सफलता मिली। तभी 150 रू0 मासिक वेतन पर उन्हें फिल्मी गीतकार का पद मिल गया। फिल्म–क्षेत्र में प्रदीप जी का यह प्रवेश था। जीवन के इस मोड़ पर वे 24 वर्ष के थे।''

प्रदीप जी ने जिस पहली फिल्म के लिए गीत लिखे थे, वह थी ''कंगन'' जो बाम्बे टॉकीज द्वारा सन् 1940 में बनी। इस फिल्म में प्रदीप का ये गीत उन दिनों प्रसिद्ध हुआ था–

''हवा तुम धीरे बहो, मेरे आते होंगे चितचोर,
छोटी सी मेरी दिल की तलैया, डगमग डोले प्रीत की नैया।
ओ पुरवैया। दया करो। मेरे हिया में उठत हिलोर।
हवा तुम धीरे बहो, मेरे आते होगे चितचोर।।''

'कंगन' के पश्चात् गीतकार के रूप में प्रदीप जी की सफलता ने उन्हें अनेक अनुबन्ध दिये। सन् 1940 में ही बनने वाली प्रसिद्ध फिल्म 'बंधन' के लिए भी उन्होनें ही गीत लिखे। बाम्बे टॉकीज की फिल्म बंधन में उनका लिखा गीत–चल रे नौजवान, रूकना तेरा काम नही, चलना तेरी शान।'' आजादी की लड़ाई में देशभक्त नागरिकों का जैसे समूह गान ही बन गया था। इस गीत से प्रदीप की किस्मत चमकी और वे देश भर में पहचानें गये।[7]

बंधन फिल्म के इस प्रसिद्ध गीत की रचना प्रक्रिया के बारे में लिखते हुए लेखक 'दिलचस्प' लिखते है– ''1940 में बनी फिल्म 'बंधन' में कवि कवि प्रदीप का लिखा गीत प्रतिबंधित कर दिया गया।'' प्रदीप के शब्दों में– फिल्म ''बंधन के लिए मैने देशभक्ति का जज्बा लिए, चल–चल रे नौजवान' गीत लिखा। इस गीत की पक्तियॉ मैने बाम्बे टॉकीज के लान में एक पेड़ की छाया तले लिखी। देश की आजादी के लिए चल रहे सघर्ष को लेकर मेरे मन में अजीब–सी घबराहट थी। मैं चाहता था कि कलम के जरिये मैं कुछ भी करूँ देश के लिए। ऐसे ही देश के नौजवानों को आजादी के लिए जगाने, उनमें जोश भरने के लिए मेरे दिमाग में कुछ पक्तियाँ आई। मैने तत्काल उन्हें कागज पर उतार लिया। अशोक कुमार को ये पंक्तियाँ इतनी पसन्द आई कि वे हारमोनियम लेकर बैठ गये। 'चल–चल रे नौजवान..... 'पंक्तियों की धुन तो उन्होंने तत्काल बना दी। फिल्म जब प्रदर्शित हुई तो नौजवानों को यह गीत खूब भाया।'' [8] ब्रिटिस हुकूमत के सेंसर के बाद भी इस गीत को नौजवानों ने अपनाया। महादेव भाई देसाई ने इस गीत की तुलना उपनिषद् के मन्त्र से की।[9]

इस प्रारम्भिक वर्षो की फिल्मों के अलावा प्रदीपजी ने आगामी वर्षो में अनेक अच्छी फिल्मों के लिए अपने सुन्दर सरल प्रेरणादायक ओजस्वी और देश प्रेम से ओत–प्रोत गीत

लिखे। इस दृष्टि से मशाल, जागृति, वामनावतार, नास्तिक, तलाक, अमर रहे ये प्यार, पैगाम, नागमणि, जय सन्तोषी माँ, हरिश्चन्द्र, तारामती आदि फिल्मों के लिए गीत लिखे। इन फिल्मों में उनकी लेखनी के सर्वाधिक लोकप्रिय गीत निम्नलिखित है –

1. ''आओ बच्चों तुम्हें दिखाएँ झाँकी हिन्दुस्तान की'' – फिल्म जागृति
2. ''तेरे द्वार खड़ा भगवान् भगत भर दे रे झोली'' – फिल्म वामनावतार
3. ''देख तेरे संसार की हालत क्या हो गयी भगवान'' – फिल्म नास्तिक
4. ''विगुल बज रहा है आजादी का गगन गूँजता नारों में'' –फिल्म तलाक
5. ''इंसान का इंसान से हो भाई चारा, यही पैगाम हमारा'' – फिल्म पैगाम
6. ''पिंजरे के पंक्षी रे, तेरा दरद न जाने कोय'' – फिल्म नागमणि
7. ''मैं एक नन्हा सा, मैं एक छोटा सा बच्चा हूँ'' – फिल्म हरिश्चन्द्र तारामती
8. ''मैं तो आरती उतारूँ रे, सन्तोषी माता की '' – फिल्म जय सन्तोषी माँ

फिल्मी गीतकार के रूप में प्रदीप जी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अश्लील और सस्ते फिल्मी गीत नही लिखे। इस दृष्टि से विचारशील सुरूचिपूर्ण और उत्तरदायी कवि के रूप में हमारे सामने आते है।

नीदा फाजली उन्हें बतौर कवि से अधिक एक गीतकार के रूप में ज्यादा मकबूल मानते है। वे कहते है ''प्रदीप जी ने बहुत ही अच्छे राष्ट्रीय गीत लिखे है, यूँ समझिये कि उन्होंने सिनेमा को जरिया बनाकर आम लोगों के लिए लिखा।, बहुत सुन्दर गीत थे वो।''[10]

''उन्होंने बहुत ज्यादा साहित्य का अध्ययन नही किया था। वो जन्मजात कवि थे उन्हें मैं देशी ठाठ का स्थानीय कवि कहूँगा। यही उनका असली परिचय है।सादगी भरा जीव जीते थे किसी राजनीतिक विचारधारा को नहीं मानते थे। जैसे साहिर लुधियानवी और शैलेन्द्र के गीत लें तो कम्युनिष्ट विचारधारा के थे। लेकिन प्रदीप जी ने किसी राजनीतिक विचारधारा को स्वीकार नहीं किया। बौद्विकता का जामा उनकी लेखनी पर नहीं था जो सोचते थे वही लिखते थे सरल थे यही उनकी खासियत थी।''[11]

यू तो कवि प्रदीप ने प्रेम के हर रूप और हर रस को शब्दों उतारा लेकिन वीर रस और भक्ति गीत उनके गीतों की बात ही कुछ अनोखी थी। फिल्मी गीतों में उनके अमूल्य योगदान के लिए उन्हें 1998 में दादा साहब फाल्के सम्मान भी दिया गया उनका हर फिल्मी गैर फिल्मी गीत अर्थपूर्ण होता था और जीवन को कोई न कोई दर्शन समझा जाता था। ''ऐ मेरे वतन के लोगों .....'' ऐसा ही प्रभावपूर्ण गीत है जो आज भी हर देशवासी की जुबान पर है 11 दिसम्बर 1998 को कवि प्रदीप का मुम्बई में देहान्त हो गया।

कवि प्रदीप के गीतों में भावना की सुचिता और भाषा की गरिमा का अनोखा संयोग है, हिन्दी फिल्मी गीतों की एक धारा इनमें दिखाई देती है।

कवि प्रदीप हिन्दी फिल्मों के इतिहास का एक स्वतन्त्र अध्याय है, उन्होंने अपने गीतों में हिन्दी की मिठास और काव्य को समाहित किया। प्रसादिकता, माधुर्य, शब्द लालित्य थे यह उनके गीतों के भाषा की विशेषता रही है उन्हें अपने गीतों के लिए अश्लीलता का सहारा कभी

नही लेना पड़ा। देशभक्ति शौर्य और भक्ति इन विषयों के गीतों में उनका नाम अखण्ड रूप से जुड़ा रहेगा।

''यहाँ यह तथ्य पर ध्यान देना जरूरी है कि फिल्मी रचनाकारों में शिल्प सजकता, भावबोध और शब्द चयन के प्रति सतर्कता का अभाव है, लेकिन कवि प्रदीप के गीतों में शिल्प सजकता भावबोध और शब्द चयन के प्रति सतर्कता देखनें को मिलती है।''[13]

प्रदीप जी की ओजस्वी वाणी के साथ देशभक्ति सामाजिक चेतना ईश्वर भक्ति की भावना से ओत–प्रोत गीत लेखन उनकी अपनी विशिष्ट शैली बन गयी। जिन गीतों को स्वयं कवि ने गाया वे गीत आज भी लोगों को द्रवित कर देते है।

''देख तेरे संसार की हालत / क्या हो गयी भगवान, / कितना बदल गया इंसान,
सूरज न बदला, चाँद न बदला, न बदला रे आसमान / कितना बदल गया इंसान
आया समय बड़ा बेढंगा /आज आदमी बना लफंगा,
कही पे झगड़ा कही पे दंगा, नाच रहा नर होकर नंगा,
छल और कपट के हाथों / अपना बेंच रहा ईमान/ कितना बदल गया इंसान''।[14]

कवि प्रदीप गीत काव्य के अद्वितीय आधुनिक कवि है वे काव्य को संगीत से अलग नही मानते इनके गीतों की शैली अनुपम है और इन गीतों के छन्द या इनका राग भी इनका अपना ही है जो अत्यन्त हृदयग्राही और मनोहारी है।

''आज हिमालय की चोटी से फिर हमने ललकारा है, दूर हटो ये दुनिया वालों हिन्दुस्तान हमारा है।'' प्रदीप जी का एक ऐसा गीत है जिसको लिखकर उन्होंने अपने जीवन का सबसे बड़ा जोखिम मोल लिया था। आज के समय में सृजन बड़े आराम का है। व्यव्स्था का हिस्सा बनकर व्यवस्था को गरियाने की भी स्वतन्त्रता प्रजा तन्त्र में हासिल है। मगर प्रदीप जी जिस समय के युवा थे उस परतन्त्र भारत के अनेक जोखिम थे। फिर भी उन्होंने लगातार लिखा, सामने आकर, छुपकर और नाम बदलकर भी लेकिन अपनी राष्ट्रप्रतिबद्धता का परिचय दिया। सृष्टि में जीवन भर इंसान अपने व्यक्तित्व के कारण सबका प्रिय होता है और जीवन के उपरान्त किये गये कृतित्व से''।

<u>सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –</u>

1. गंगाप्रसाद शर्मा हिन्दी सिनेमा का सुहावना सफर। पृ0 191
2. गीतकार तथा गायक प्रदीप लेख हिन्दुस्तान रविवार 28 अगस्त 1955
3. हिन्दी फिल्मी गीतकार पृ0 37
4. मधुमति अक्टूबर 2009 पृ0 31
5. ओमकार प्रसाद माहेश्वरी हिन्दी चित्रपट का नीति साहित्या पृ0 304
6. डी0डी0 राष्ट्रीय चैनल 07.12.2003 रात 10 बजे।
7. राजस्थान पत्रिका बालीबुड ''कौमी तरानों का कारवा। पृ01
8. हिन्दी सिनेमा के 100 वर्ष दिलचस्प भारतीय पुस्तक परिषद पृ055
9. वही पृ0 56
10. बी0बी0सी0 हिन्दी डाट काम बुधवार 10 दिसम्बर 2008।

भारतीय संस्कृति के वाहक : पुराण

विमल कुमार

संस्कृत– विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,इलाहाबाद
E-mail- vimal123.763@rediffmail.com

पुराण भारतीय संस्कृति की जीवन धारा हैं।भारतीय जीवन में संस्कृति रक्षक ग्रन्थों के रूप में पुराणों का महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि भारत देश की संस्कृति के दर्शन वेद एवं वेदाङ्गों में संक्षिप्त रूप से प्राप्य है। परन्तु इसका विस्तार हमें पुराणों में दृष्टिगत होता है।[1] वेदों में वर्णित संस्कृति का ज्ञान कुछ ही विद्वानों को हो सकता है। लेकिन सामान्य जनों को सरलतम् शैली में भारतीय संस्कृति का परिचय पुराण ही करा सकते हैं। इन ग्रन्थों में मानव जीवन की उन्नति और अवनति की अनेक गाथाएँ प्राप्य हैं। कर्मकाण्ड के बाद भक्ति की निर्मल धारा प्रवाहित हुई है। ब्रह्म की स्वरूपात्मक व्याख्या निर्गुण और सगुण रूप में की गयी है।

आज निरन्तर द्वन्द्व के युग में पुराणों का ज्ञान ही मानव को मुक्ति दिला सकता है। ह्रास होती संस्कृति का संरक्षण पुराणें के अध्ययन से ही किया जा सकता है। पुराण ही मानव मूल्यों को संरक्षित कर सकते हैं। समस्त पुराण श्रद्धा की उस भूमि पर अधिष्ठित हैं.....जहाँ ऐतिहासिकता और भूगोल का तर्क उतना महत्त्वपूर्ण नही रहता जितना कि उनमें व्यक्त जीवन मूल्यों का स्वरूप। जिन जीवन मूल्यों को स्थापना पुराण साहित्य मे की गयी है। वह मूल्य आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं। क्योंकि धर्म और धर्म का आस्थामूलक व्यवहार किसी मूल सत्ता की अपेक्षा नही करता है। उससे स्वतः आत्म विश्वास और आत्मालोक उत्पन्न होता है। जो आन्तरिक उत्कर्ष का हेतु है। आस्था की उन्नति भौतिक उन्नति की अपेक्षा श्रेष्ठ है।यह पुराण तर्क पर आधारित न होकर भावना और विश्वास पर आधारित है। इन्ही समस्त अर्थों में पुराण भारतीय संस्कृति को सुरक्षित रखने में समर्थ हैं।

पुराण शब्द की व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ पर विचार करने पर पुराणों का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।यद्यपि अनेक विद्वानों ने पुराण का अर्थ ''प्राचीन'' किया है।लेकिन यह पुराण शब्द के वास्तविक मन्तव्य को प्रकट करने में असमर्थ है। क्योंकि आचार्य यास्क के अनुसार जो प्राचीन होते हुए नित्य नवीन है –''पुरा नवं भवति इति पुराणम्''। [2]आचार्य यास्क के इस अर्थ पर स्पष्ट हो जाता है कि पुराण का अर्थ शाश्वत है।जो समय की अपेक्षा नही करता अपितु धारा की भाँति प्रवहमान रहता है। पुराण के इस अर्थ से स्पष्ट हो जाता है कि पुराणों में वर्णित संस्कृति का महत्त्व आज भी उतना ही है जितना की प्राचीन काल में था।आज हम जिस संस्कृति की झलक पाते है वह पुराणों की ही देन है।

पञ्चलक्षणात्मक पुराणों का प्रमुख कार्य भारतीय संस्कृति की रक्षा है। पुराणों में सर्ग प्रतिसर्ग आदि का अध्ययन किया जाता है जो भारतीय संस्कृति का प्रमुख अङ्ग है।[3] इन

पुराणों में भारत की शाश्वत आत्मा निहित है। इनका अध्ययन किये बिना भारत का यथार्थ चित्र सामने उपस्थित नही हो सकता है। गन्तव्य और पाथेय के लिये पुराणों का ज्ञान परमावश्यक है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक विद्याओं का वर्णन पुराणों में सरल एवं स्पष्ट रूप से वर्णित है ज्ञान विज्ञान की कोई भी ऐसी वस्तु नही है जिसका वर्णन पुराणों में न हो। जो विषय अन्य माध्यमों से दुरूह प्रतीत होते हैं उन्हे पुराण बड़े रोचक ढंग आख्यान आदि के रूप में प्रस्तुत करते हैं। जैसे महान पाप से महानतम् पुरुष का भी क्षय हो जाता है। इसका प्रत्यक्ष पुराणों में भारतीय संस्कृति के प्रमुख अंग संस्कार, आश्रम व्यवस्था, चतुर्विध पुरुषार्थों, चतुर्वर्ण, नित्य –नैमित्तिक कर्म, भारत वर्ष के अनेक सुरीतियों के गुप्त रहस्य, शिक्षा, ब्रह्मविद्या, ईश्वर–भक्ति का हृदय परम् आनन्दित हो जाता है।[4] वर भक्ति, पातिव्रत्यधर्म और अग्निविद्यादि ऐसे विषय वर्णित हैं जिनका अध्ययन या श्रवण के बाद मनुष्य पुराण के अनुसार ब्राह्मण वध सन्धिभङ्ग तथा परस्त्रीगमन उदाहरण इन्द्र और बलराम हैं।[5] धर्मशास्त्रों में सत्य से च्युत मनुष्य को श्मशान के समान त्याज्य और सत्यपालन करने वाले पुरुष को सर्वश्रेष्ठधर्म कहा गया है।[6] जिसका वचन असत्य होता है उसके अग्निहोत्र वेदाध्ययन, दान आदि समस्त पुण्य कर्मों का क्षय हो जाता है। पुराणों ने धर्म को दृढ़ता से स्थापित किया है। जीव में संस्कार का प्रारम्भ गर्भाधान से प्रारम्भ होता है और अन्त अन्त्येष्टि से होता है। जीव के निर्माण में इन षोड्श संस्कृति का महत्वपूर्ण स्थान है। ब्रह्मचारी को ब्रहमचर्य व्रत का पालन करना चाहिए।[7] ग्रहस्थाश्रम को समस्त आश्रमों में श्रेष्ठ माना गया है। यह आश्रम अन्य आश्रमों का स्रोत कहा गया है।[8]

सभ्य समाज के निर्माण में सस्कारों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विवाह संस्कार के संबन्ध में पुराणों ने वर परीक्षण को महत्त्वपूर्ण माना है जिसके अनुसार वर को रोगी, विक्षिप्त, नपुंसक और चरित्रभ्रष्ट नही होना चाहिए।[9] पुराणों ने आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन किया गया है। उसमें भी प्रथम चार को अच्छा माना गया है और अन्तिम चार को निन्दित माना गया है।[10] इसीलिए श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के विवाह को निन्दित माना गया है।[11] क्योंकि भारतीय समाज इसकी मान्यता नही देता है।

यद्यपि प्राचीन काल में अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों का प्रचलन था। लेकिन वह समाज को सभ्य बनाने का प्रयास था। लेकिन आज इस प्रकार के विवाह अधिकांशतः पाया जाता है प्राचीन काल में यह व्यवस्था एक अपरिहार्य कारणों पर थी। जैसे वृष्णि वंशज शौरि की एक पत्नी वैश्य थी।[12] विवाह के पश्चात् वानप्रस्थ और तत्पश्चात् संन्यास का विधान है वैदिक संस्कृति में मनुष्य का जीवन सौ वर्ष माना गया था (जीवेम शरदः शतम्)। इसलिए अन्त्येष्टि संस्कार का संपादन तीन प्रकार से किया जाता है जिसको मरते–मरते लोग स्वीकार ही करते हैं।[13] यह एक ऐसा संस्कार है जिसे प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी रूप में अवश्य ही सम्पादित करता है या तो उसे गाडता है या तो शव को जला देता है।

वर्णों की संख्या कर्म के आधार पर चार बनायी गयी थी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। प्रत्येक वर्ण का धर्म है जो उसके कर्तव्य का बोध कराता है।लेकिन यह वर्ण धर्म शब्द मात्र ब्राह्मण आदि चतुर्वर्ण के कर्तव्यों का उपलक्षक न होकर वर्णधर्म ,आश्रमधर्म, वर्णाश्रधर्म,

गुणधर्म, नित्यकर्म एवं नैमित्तिकधर्म का उपलक्षक है।[14] ब्राह्मण के लिए भिक्षा ग्रहण करने का एक निश्चित विधान है कि स्नान कर्म के उपरान्त भिक्षा का ग्रहण नही करना चाहिए ।[15] इस प्रकार भारतीय संस्कृति ने प्रत्येक वर्ण के लिए कर्मों का एक निश्चित नियमों का निर्धारण किया है जिसका पालन अब भी किया जाता है।

भारतीय संस्कृति त्याग प्रधान है। तृष्णा को हेय माना गया है। क्योंकि एक आवश्यकता दूसरी आवश्यकता को जन्म देती है जिससे अनेक श्रंखलाएं बनती जाती हैं। अतः तृष्णा का यथा शक्ति का त्याग करना चाहिए।[16] पुराणों के अनुसार पुरुषार्थों का सम्यक् प्रकार से सेवन करना चाहिए। क्योंकि जिस प्रकार मोक्ष का सहायक अर्थ है उसी प्रकार अर्थ का सहायक काम है। और यदि मनुष्य काम को मर्यादित नही करता है जो मोक्ष लाभ से वञ्चित हो जायेगा।[17] मनुष्य को तृष्णा (अनियन्त्रित कामनाओं) तथा रागद्वेषात्मक प्रवृत्तियों का त्याग करना चाहिए ।[18]

पुराण जीव को मोक्ष की ओर प्रवृत्त करने के लिए प्राचीन काल से आज तक भारतीय संस्कृति को संजोए हुए है और आगे भी सुरक्षित रखेंगे। क्योंकि भारतीय संस्कृति के प्राण इन्ही वेद और पुराणों में बसते हैं। **''पुरा परम्परां वक्ति पुराणं तेन वै स्मृतम्"।**[19]

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –

1–महाभारत,आदि पर्व 5/6–7
2–निरुक्त
3–ब्रह्मवैवर्त पुराण 1/31
4–भूमिका,मार्कण्डेय पुराण, खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन मुम्बई–4
5–मार्कण्डेय पुराण 5/10
6–मार्कण्डेय पुराण 8/17,18, 19, 20, 41, 42
7–विष्णु पुराण 3/9/1
8–ब्रह्माण्ड पुराण 2/7/173, विष्णु पुराण 3/9/11, वायु पुराण8/172
9– कुब्जवामन जात्यन्ध क्लीब पङ्गवार्त रोगिणाम्। व्रतचर्या भवेत्तेषां यावज्जीवमनंशतः।। विष्णु पुराण
10–विष्णु पुराण 3/10/24
11–विष्णु पुराण 5/26/11
12–मत्स्य पुराण 46/20
13–गरुण पुराण 11/11
14–वर्णधर्मःस्मृतस्त्वेक आश्रमाणामतःपरम्.....। भविष्य पुराण
15–शतपथ ब्राह्मण 11/3/3/7
16–यत्पृथिव्यां ब्राहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः। एकस्यापि न पर्याप्तं तदित्यति तृषं त्यजेत्।।
विष्णु पुराण 4/2/24
17–भागवत पुराण 11/21/24
18–गरुण पुराण 16/43, 44
19–वायु पुराण 1/2/53

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति : गुरूकुल

जी. गणेशन मिश्रा

शोध छात्र (जेआरएफ) हिन्दी विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
Email – g.ganeshanmishra@gmail.com

गुरूकुल शिक्षा प्रणाली भारतीय संस्कृति, समाज और वर्णाश्रम धर्म की पूर्ण चरितार्थता की परम्परागत प्रतीक है और इसकी अवज्ञा से शिक्षा के मूल मानबिन्दु का लोप होता हैं। श्रीकृष्ण ने सुदामा से श्रद्धानिष्ठामयी भावभावित भाषा में गुरूकुल जीवन का स्मरण दिलाकर कहा कि गुरूपत्नी को ईधन लाने हेतु वन में भेजा था। अकस्मात् भयंकर जलवृष्टि और तमिस्रा से दिशाएँ आवृत्त हो गयी थीं। गुरू के गृह पर हम दोनों के यथासमय न पहुँचने पर हमारे गुरू महर्षि संदीपनि हमें खोजते हुए आये और उन्होंने हमें अपने स्नेहाशीष से कृतार्थ करते हुए कहा कि हमारे हित सम्पादन में तुम दोनों ने जिस विशुद्ध समर्पण भाव का परिचय दिया है, उससे मैं सन्तुष्ट हूँ। तुम्हारे मनोरथ पूर्ण हों। वास्तव में गुरू के अनुग्रह से गुरू का ब्रह्मवर्चस्व शिष्य को पूर्ण काम कर देता है– **गुरोरनुग्रहेणैव पुमान् पूर्णः प्रशान्तये।**[1]

गुरूकुल की तपोमयी त्यागपूर्ण शिक्षा का ही प्रभाव था कि सुदामा ने यह अनुभव किया कि मैं तो अकिंचन हूँ, श्री कृष्ण श्रीनिकेतन है; उन्होनें बाहुओं से मुझे आलिंगित किया और प्रियाजुष्ट पर्यंक पर मुझे विराजमान होने का सौभाग्य प्रदान किया। निस्सन्देह ऐसे प्रिय सखा श्रीहरि का चरणार्चन ही समस्त सिद्धियों का मूल है।[2]

सुदामा जैसे जगत्–शिक्षक की विज्ञप्ति करने वाले ही तप–त्याग–वैराग्य और भगवद्भक्ति युक्त ब्राह्मणत्व की प्रतिष्ठा से जगत् में श्रेय की स्थापना का आधार होता है। शिक्षक और शिक्षार्थी में, अध्यापक और विद्यार्थी में पारस्परिक सहज स्नेहजन्य सौहार्द्र और सद्विवेक ही भारतीय शिक्षा की प्राणशक्ति है। सुदूर प्रचीनकाल से लेकर आज तक के अध्ययन–अध्यापन को ब्रह्मयज्ञ की संज्ञा दी गई हैं भारत में शिक्षा वैदिक युग से मनुष्य के सर्वांगीण विकास, राष्ट्रीय संस्कृति के संरक्षण तथा जातीय उत्थान के लिए आवश्यक समझी जाती रही है। अथर्ववेद ने भी ब्रह्मचर्य की महिमा को गाया है। प्राचीन ऋषियों ने मानव–जीवन को जिन चार आश्रमों में बाँटा था उनमें पहला ब्रह्मचर्य आश्रम विद्याभ्यास के लिए ही था। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य समझा जाता था कि वह न केवल पुत्र को जन्म देकर पितृ–ऋण से मुक्त हो अपितु इसके लिए अतिरिक्त ऋषि–ऋण को भी उतारे। शिक्षा के महत्त्व को सबके चित्त पर भली–भाँति अंकित करने के लिए स्नातक को प्राचीन समय में राजा से अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी। तत्कालीन विद्यार्थी जीवन में ब्रह्मचर्य और तप का महत्त्व था। ब्रह्मचर्य और तप के लिए अरण्य में रहना अधिक समीचीन है।[3] जीवन निर्माण के लिए योग्य गुरूओं से शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक था। भारतीय–जीवन–दर्शन में सत्य, अहिंसा, त्याग व परोपकार–ये चार प्रमुख स्तम्भ थे। भरद्वाज, वाल्मीकि, अत्रि, गालव, अगस्त्य आदि के आश्रम

प्रख्यात् थे। इसमें प्रायः बालकों को छोटी अवस्था से ही रखकर उन्हें शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक शिक्षा प्रदान की जाती थी। उच्च आयु के स्त्री–पुरूष भी उन आश्रमों का लाभ उठाते थे। किसी–किसी आश्रम में ज्ञान के विशिष्ट विषयों का अध्ययन–अध्यापन होता था। ऐसे स्थलों पर अन्य आश्रमों के विद्यार्थी जाकर अपनी शंकाओं का समाधान करते थे। आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर जब वे स्वयं को उपयुक्त पाते थे, तभी वे अन्य विद्यार्थियों को ज्ञान प्रदान करते थे। भवभूति रचित उत्तररामचरितम् में वर्णित है कि अगस्त्य के आश्रम में उच्च तत्त्वज्ञान की शिक्षा श्रेष्ठ विद्वानों द्वारा प्रदान की जाती थी। आत्रेयी नामक महिला ने वाल्मीकि जी के आश्रम से अगस्त्य मुनि के आश्रम में जाकर 'निगमान्त विद्या प्राप्त की थी।[4]

प्राचीन शिक्षा पद्धति का आदर्श सादा जीवन और उच्च विचार था। ब्रह्मचारियों के लिए विद्याध्ययनकाल के आवश्यक नियम, इनको ध्यान में रखकर बनाये गये थे। ब्रह्मचारी शिक्षा काल में प्रायः गुरू के समीप रहते थे। उन्हें अन्तेवासी भी कहा जाता था। शिष्य गुरू के घर जाकर उसके सदस्य की तरह रहता था और गुरू अपने पुत्र की तरह उसका पालन करता था। कृष्ण और सुदामा ने भी अपने गुरू की इसी प्रकार सेवा की थी। विद्यार्थी केवल वैदिक विषयों का ही अध्ययन नहीं करते थे अपितु लौकिक विज्ञानों में भी पारंगत होते थे।

भारतीय साहित्य में जो शिक्षा सम्बन्धी प्रचुर लेख मिलते हैं, उनसे स्पष्ट है कि भारत में शिक्षा को ऊँचा स्थान प्राप्त था। तक्षशिला, नालन्दा, काशी, वलभी आदि स्थानों में विश्वविद्यालय स्थापित किये गये थे जिनमें ज्ञान–विज्ञान के विविध विषयों का शिक्षण होता था। गुरूकुल से शिक्षा प्राप्त करने के बाद शिक्षार्थी का यह संकल्प होता था कि मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ और भूमि मेरी माता है।[5] मेरा जीवन मातृभूमि की सेवा में अर्पित रहेगा, लोक के लिए समर्पित रहेगा। गुरु प्रदत्त शक्ति से मैं अपने राष्ट्र को जीवित और जागृत रखूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा से सम्पन्न स्नातक जिस समाज या राष्ट्र में प्रवेश करता था उस समाज का सर्वांगीण विकास होने में कोई कसर नहीं रहती थी।

वस्तुतः देश और समाज के सर्वांगीण विकास का श्रेय हमारे प्राचीन गुरूकुलों और आचार्यों को है, जिसकी शिक्षा पद्धति ऐसी थी; जो मनुष्य को न केवल आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति कराती थी, अपितु व्यक्ति में ऐसी शक्ति और प्रतिभा लाती थी जो स्वयं को तथा समाज को ऊर्ध्वगामी बना सके। ऋषि–मुनि आजीवन गुरूकुल चलाने, सद्ग्रन्थों का प्रणयन करने यज्ञों का आयोजन करने, कथा, प्रवचन के माध्यम से लोकशिक्षण देने, संस्कार और पर्वों के माध्यम से आदर्श परिवार व समाज के निर्माण में संलग्न रहते थे। आज हमारे सामने ज्ञान का जो अथाह भण्डार सुरक्षित है, वह उन्हीं ऋषियों–मुनियों की ही देन है।

<u>संदर्भ ग्रन्थ सूची</u> –

1. श्रीमद्भागवत् 10/80/43
2. अध्यापनंब्रह्मयज्ञः। मनुस्मृति 3/70
3. यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव। छा0 उ0 8/5/3
4. अस्मिन्नगस्त्यप्रमुखाः प्रदेशे भूयांस उद्गीचविदो वसन्ति।
   तेऽभ्योऽधिगन्तु निगमान्तवियां वाल्मीकिः पार्श्वादिह पर्यटामि। उत्तररामचरितम् 2/3
5. माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। अथर्ववेद 12/1/12

स्थित प्रज्ञः भगवद्गीता का सर्वातिशायी वैशिष्ट्य

डॉ0 ललित कुमार मिश्र

शोध छात्र
संस्कृत विभाग,
गंगा नाथ झा परिसर, इलाहाबाद

श्रीमद्भगवद्गीता सार्वकालिक, सार्वदेशिक तथ्यों के उद्घाटन हेतु विश्वविश्रुत है। गीता के महत्त्व का पता तो इसी से चलता है कि सारे शास्त्रों की उत्पत्ति वेदों से हुयी, वेदों का प्राकट्य भगवान् ब्रह्माजी के मुख से हुआ और ब्रह्माजी स्वयं भगवान् के नाभि–कमल से पैदा हुए इस प्रकार शास्त्रों एवं भगवान् के बीच पर्याप्त व्यवधान पड़ गया है, जबकि भगवद्गीता तो साक्षात् भगवान् के मुखारविन्द से निकली है। ऐसी स्थिति में गीता समस्त शास्त्रों से बढ़कर एवं सर्वाधिक प्रामाणिक मानी जाती है।

भगवद्गीता मानवीय जीवन के समस्त पक्षों में व्याप्त दुर्बलताओं के निराकरण का सुस्पष्ट एवं स्वस्थ मार्ग का प्रकाशन करती है। गीता में निहित तथ्यों में स्थित प्रज्ञ की अवधारणा महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है बल्कि यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि सम्पूर्ण गीता का चरम प्रतिपाद्य स्थित प्रज्ञ ही है। परन्तु यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि गीता के प्रारम्भिक चरण में ही स्थित प्रज्ञ की अवधारणा का उद्घाटन क्यों किया गया? इसका उत्तर यह हो सकता है कि गीता का उद्घोष सर्वथा निःस्पृहता का भाव है और स्थितप्रज्ञ की अवधारणा इस भाव को पुष्ट करती है। गीता में कहा गया है–

प्रजाहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।[1]

अर्थात् मनुष्य के द्वारा उसके मन में स्थित सम्पूर्ण मनोकामनाओं का भली–भाँति त्याग और आत्मा के द्वारा आत्मा में ही संतुष्ट रहना ही स्थितप्रज्ञ है। कहा जा सकता है कि श्रीमद्भगवद्गीता का यह चिन्तन मानव जाति के लिए एक अमृतकलश के समान है जिसके निरन्तर पान से मानव जाति का कल्याण होना निश्चित है। चाहे प्राचीन काल रहा हो या आधुनिक काल, प्रत्येक देश काल परिस्थिति में मानवों की अनियंत्रित स्पृहा ही विभिन्न समस्याओं की जन्मदात्री रही है। स्पृहता ही प्रत्येक प्राणी के दुःख का मूल कारण है और निस्पृहता से ही मनुष्य द्वन्द्वों से परे हो सकता है। स्थितप्रज्ञ आत्मा से आत्मा में ही संतुष्ट रहता है इस दशा में सांसारिक पदार्थों एवं कर्मों में सूक्ष्म वासना का अभाव हो जाता है।

इन्द्रियों पर संयम स्थितप्रज्ञ के लिए आवश्यक बताया गया है, यहाँ उल्लेखनीय है कि साधारण साधक हठपूर्वक इन्द्रियों का निग्रह कर लेते है अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा विषयों के ग्रहण करने की प्रवृत्ति से दूर हो जाते है लेकिन विषयों पर आसक्ति यथावत् बनी रहती है–

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान्विमूढ़ात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।[2]

वर्तमान जीवन में भी ऐसे उदाहरण है कि जहाँ वाह्य रूप से तो इन्द्रियों पर नियंत्रण होता है किन्तु विषयों पर आसक्ति बनी ही रहती है। वर्तमान युवा पीढ़ी को आसक्ति के नाश पर ध्यान देना चाहिए क्योंकि आसक्ति का नाश न होने पर प्रमथन स्वभाव वाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान पुरुष के मन को बलात हर लेती है। लेकिन स्थित प्रज्ञ की स्थिति सर्वथा भिन्न है– **विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्यदेहिनः। रसवर्ज रसोऽप्यस्य परं दृष्टवा निर्वतते।।**[3]

दुःखों से उद्विग्नता तथा सुखों में लिप्सा उस परमात्य ऐकीभाव में प्रमुख अवरोधक है। वर्तमान पीढ़ी के सामने अनेक मनोवैज्ञानिक समस्यायें प्रकट होती है। पलायनवादी प्रवृत्ति दुःखों से उद्विग्नता का ही परिणाम है। भ्रष्टाचार, व्यभिचार आदि सुखों से लिप्सा का ही परिणाम है। किन्तु स्थितप्रज्ञ जन सुख–दुःख, लाभ–हानि, मान–अपमान व निन्दा–स्तुति आदि में मिट्टी पत्थर सुवर्ण आदि में सर्वत्र उसका समभाव हो जाता है।

यो न ह्रष्यति न द्वेष्टि नशोचति न काङ्क्षति। शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।।[4]

बिना विषयों से आसक्ति हटने पर मनुष्य की बुद्धि स्थिर नही रहती है। वह सदैव भ्रम की स्थिति में रहता है, क्योंकि यही आसक्ति अनेक दुःखों की जन्मदात्री बन जाती है। क्योंकि आसक्ति से विषयों की कामना उत्पन्न होती है कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है क्रोध से मूढ़भाव, मूढ़भाव से स्मृति भ्रम होता है, स्मृति भ्रम से ज्ञान शक्ति का नाश हो जाता है, ज्ञान शक्ति का नाश हो जाने से व्यक्ति अपनी स्थिति से गिर जाता है, लेकिन स्थितप्रज्ञ–

''यदा संहरते चायं कूर्मोऽङानीव सर्वशः। इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।[2]

अर्थात् जैसे कछुआ सब ओर से अपने आप को समेट लेता है, वैसे ही जब पुरुष इन्द्रियों को विषयों से सब प्रकार से हटा लेते है तब उसकी प्रज्ञा स्थिर हो जाती है। यहाँ कछुये के उदाहरण से स्पष्ट है वह किसी भी समय अपने अंग समेट सकता है और पुनः विशिष्ट उद्देश्यों से उन्हें प्रकट कर सकता है। इसी प्रकार कृष्णभावनाभावित व्यक्तियों की इन्द्रियाँ भी केवल भगवान् की विशिष्ट सेवाओं के लिए काम आती है अन्यथा उसका संकोच कर लिया जाता है। उल्लेखनीय है कि अनेक विद्वान, ऋषि, दार्शनिक, आध्यात्मवादि इन्द्रियों को वश में करने का प्रयत्न करते है, किन्तु वे भी कभी–कभी विचलित मन के कारण इन्द्रियभोग का लक्ष्य बन जाते हैं। साधक को भगवत्परायण होकर ध्यान में बैठना चाहिए, ऐसी स्थिति में विषयों से आसक्ति हट जाती है।

समग्रतः काम, क्रोध से सर्वथा दूरी सुख दुःख से समभाव, इन्द्रियों के विषयों से सर्वथा आसक्ति रहित होना युवा पीढ़ी व मानव जन के लिए आवश्यक है। 'स्थितप्रज्ञ' के अवधारणा द्वारा यही बातें स्पष्ट की गयी है। यद्यपि यह विशेष स्थिति के लिए आवश्यक है किन्तु सामान्य स्थिति के लिए भी इनकी महत्ता कम नहीं है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची –

1. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय–2, श्लोक–55
2. वही, 3/6
3. वही, 2/59
4. वही, 12/17

5. वही, 2/58

शिवप्रसाद सिंह के कथा–साहित्य में राजनीतिक चेतना

अजीत सिंह

वरिष्ठ शोध अध्येता, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

'राजनीति' का शाब्दिक अर्थ राज्य की नीति अथवा शासन करने की नीति है। मनुष्य की सभ्यता के विकास के साथ–साथ राजनीति का अस्तित्व भी उभर कर आया। परिवार से समाज का, समाज से प्रान्त का, प्रान्त से राज्य का और राज्य से देश का निर्माण होता है। राजनीतिक संघर्ष, विद्रोह, द्वन्द्व का प्रभाव समाज पर पड़ता है जिससे व्यक्ति का जीवन प्रभावित होता है। राजनीति का समाज में अपना अलग ही महत्व है। समाज में राजनीति सम्बंधी उथल–पुथल निरन्तर चलती रहती है। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी देश का नागरिक होता है और इस आधार पर उसे भारतीय संविधान में मूलभूत अधिकार प्राप्त होते हैं। मनुष्य के हितों, अधिकारों, तथा उसके सामाजिक संबंधों पर राजनीति का प्रभाव पड़ता है। जिसके कारण मनुष्य किसी भी स्थिति में राजनीति से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

शिवप्रसाद सिंह राजनीति को अनैतिकता का मुख्य शस्त्र स्वीकार करके यह प्रतिपादित करते है कि राजनीतिज्ञों के अनेक रूप है। राजनीतिज्ञ गिरगिट की तरह रंग बदलते है और इन रंगों के बदलाव की भाँति घिनौने कुचक्र तथा दावफेर जनता को बरगलाते है और वह छलावे का शिकार बनती है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात समाजसेवी बाना धारण करने वाले देश के गद्दार लोगों की स्वार्थी, चमचागीरी प्रवृत्ति को शिवप्रसाद सिंह जी ने अपने कहानियों के माध्यम से उजागर किया है 'शहीद दिवस' कहानी में। 'बेजुबान लोग' कहानी के माध्यम से शिवप्रसाद सिंह जी ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि स्वराज्य मिलने के बाद उभरी आत्मकेन्द्रित व्यक्तिवादी प्रवृत्ति पर व्यंग्य मिलता है– ''अब क्या जमींदारी है, स्वराज है स्वराज। किसी से किसी का मतलब नहीं, कोई किसी की ओर से नहीं आता।''[1]

आजादी के बाद की असफल शासन पद्धति में विदेशों से कर्ज लेती सरकार पर शिवप्रसाद सिंह जी ने अपनी 'भेड़िए' और 'तकाबी' कहानियों के माध्यम से बिल्कुल खुला व्यंग्य किया है– ''या तो सरकार है प्रधान जी देश–विदेश से कर्जा लेती या तो हमारे सुहेल सिंह।''[2]

शिवप्रसाद सिंह ने आजादी के बाद बदलते हुए सामाजिक परिवेश में राजनीति के महत्व को चित्रित किया है। 'अलग–अलग वैतरणी' में राजनीति की इस स्वार्थी लोलुप और

भ्रष्ट प्रकृति को खुलकर प्रकट किया गया है– ''किसमत भी क्या खेल करती है। एक ही उमर के दो आदमियों में एक अपना दाँव खेलकर सब कुछ हारकर अंधेरे में बैठ गया और दूसरा अपना दाँव खेलने के लिए अवसर की प्रतीक्षा कर रहा है।''[3]

भूमिहीन किसानों और जमींदारों का संघर्ष शिवप्रसाद सिंह जी के उपन्यास 'अलग–अलग वैतरणी' में मुखरित हुआ है। आर्थिक साधनों के असमान वितरण में जनतांत्रिक चेतना के बीज खेतिहर मजदूरों में अपने अधिकारों के प्रतिरूप में फूट पड़े हैं– ''मार के जान ले लो, लेकिन हम एक बार नहीं सौ बार कह रहे हैं। हम बिना रोजीना बन्नी के काम नहीं करेंगे। परती खेत लेकर ओम्मा अपनी कब्बर बनायेंगे? हमारे छोटे–छोटे लड़िका चार दिन से भूखे सोई रहे हैं। इससे अइसा काम नहीं होगा।''[4] यहाँ लोकतांत्रिक चेतना की विद्रोहात्मक स्थिति दिखाई पड़ रही है।

वर्तमान समय में गाँव भी जागृति हो चुके हैं। वे अपने अधिकारों के प्रति सजह हैं। सरूप भगत भी यथासंभव ठाकुरों और जमीदारों से उलझना नहीं चाहता, किन्तु अपनी जाति विरादरी की इज्जत, आबरू के खिलाफ वह आवाज उठाता है– ''इज्जत तो सबकी एक ही है बाबू ? मजूरी लेते हैं। हमें गरज है कि करते हैं। आपको गरज है कि कराते हो। इसका मतलब ई थोड़े हो गया कि हम आपके गुलाम हो गए।''[5] स्त्रियों को भी अपनी बात कहने का साहस और एकजुटता होनी चाहिए। शिवप्रसाद जी के उपन्यास 'औरत' में सोनवा चमाइन कहती है– ''अब खेतिहर मजूरों के बराबर ही मजूरिनें भी मजूरी पाएँगी। आज के जमाने में तुम दस रूपये पाती हो, मर्द लोग सोलह रूपये पाते हैं। मजूरी तो अभी भी शहर के मजदूरों के सामने आधा पौना ही है, पर हम उसके लिए बाद में लड़ेंगे, पहले अपने लिए लड़ो, एकजुट होकर लड़ो।''[6] आज गाँवों में स्त्रियाँ भी अपने बदलावों का संकेत दे रही हैं। समान कार्य के लिए समान मजदूरी का उसका यह नारा प्रसिद्ध हो रहा है, वह अपने अधिकारों के प्रति जागृति हो चुकी हैं। और पुरुषों से कंधा से कंधा मिलाकर वह उनके बराबर कार्य कर रही हैं। जिससे गाँव के जनजीवन में पर्याप्त बदलाव दिखाई पड़ रहा है और गाँव के जनजीवन में पर्याप्त सुधार हो रहा है और यह राजनीतिक चेतना से ही संभव हो सका है।

शिवप्रसाद सिंह के कथा–साहित्य में नेतागण राजनीति में जाति, धर्म, आदि का नारा लगाकर समाज को साम्प्रदायिकता की आग में झोंक देते हैं। परिणामतः भाई–भाई में मार–पीट की स्थिति निर्मित हो जाती है। 'शैलूष' उपन्यास में रामहरख हरिजन का कथन– ''असल में हमने जो बाभन हरिजन समीकरण खड़ा किया है, वह उसके मूल पर चोट करना चाहता है। उसके साथ होंगे ठाकुर, अहीर, भर, गोंड आदि पिछड़े वर्ग के लोग। यह है धोबिया पाट। हम सत्ता के दलाल माने जायेंगे, भ्रष्ट माने जायेंगे और हमारी रणनीति ही हमारी पराजय का कारण बनेगी।''[7]

जमीदारों को किसी न किसी बहाने की आड़ में कृषकों को सताने की आदत हो जाती है। वे अपने वर्ग को उच्च एवं श्रेष्ठ मानते हैं। 'शैलूष' उपन्यास में घूरे चमार के द्वारा घुरफेंकन का पुत्र अनुराग अपना स्वागत न किये जाने पर घूरे को मुर्गा बनाकर कोड़े से पिटवाता है। उसके कार्यों का विरोध करते हुए घूरे का कथन कितना तर्कपूर्ण है– ''सुनो

अनुराग महाराज, यह तुम्हारे बाप घुरफेंकन की जागीर नहीं है। यह इन्दिरा गाँधी का राज है। अगर एक चिट्ठी भेज दूँ थाने पर तो तुम्हारी सारी हेकड़ी हवा हो जायेगी।''[8] परन्तु शिवप्रसाद सिंह जी ने एक ओर जहाँ इन्दिरा गाँधी के शासन की प्रशंसा की वहाँ उनके द्वारा लागू इमरजेन्सी पर हल्का व्यंग्य भी किया है– ''ई का ईमरजंसी है ? तू क्या मेरा बोलना बन्द कर देगी, तू मुझे हुकुम देगी, और मैं तेली के बैल की तरह आँख पर अंटौतल लगाये–लगाये चक्कर काटता रहूँगा ? लल्लू नट कह कर चले गए।''[9]

'गली आगे मुड़ती है' उपन्यास में राजनीति के दल–दल में फंसकर सम्पूर्ण युवा पीढ़ी अपनी बुनियादी समस्याओं और दायित्वों को भूलकर दिशाहीन हो जाती है। रामानन्द कथानायक गाँव से बनारस पढ़ने के लिए आता है। उसकी प्रस्तुति उपन्यास में एक साधारण आदमी के रूप में हुई है जो किसी भी प्रकार की दुष्प्रवृत्ति, बेइमानी, अनैतिकता से देर सच्चे अर्थों में इन्सान बनकर रहना चाहता है। वह अपने माँ से कहता है– ''तेरे दिन लौटेगें अम्मा, मैं अपने बाप को दिखा देना चाहता हूँ कि कुत्ते की दुम में क्या शक्ति होती है। हम भूखों नहीं मरेंगे। उनके आसरे नहीं जीयेंगे। हम किसी की कृपा नहीं चाहते, बस अपने पैरों पर खड़ा होना चाहते हैं।''[10]

'गली आगे मुड़ती है' की राजनीतिक चेतना की ओर संकेत करते हुए कृष्णनाथ का कथन द्रष्टव्य है– ''गली की पार्श्वभूमि काशी के युवा आक्रोश की है। काशी के राजा दिवोदास की पुराण कथा में युवा पीढ़ी के प्रथम क्रोध से लगाकर 1967 के भाषा आंदोलन में उभरे युवा आक्रोश को यहाँ आकार दिया गया है। पुराण को नवीन की दृष्टि से, नवीन को पुराण की दृष्टि से देखने की कोशिश है।''[11]

हिन्दी उपन्यास जगत में ऐतिहासिक उपन्यासों की एक लम्बी परम्परा है। इस परम्परा के पूर्व में लिखे उपन्यास– मृगनयनी, बाणभट्ट की आत्मकथा, अनामदास का पोथा आदि। नीला चाँद, दिल्ली दूर है तथा कुहरे में युद्ध इनके ऐतिहासिक उपन्यास की श्रेणी में रखे जाते हैं। उन्होंने इन उपन्यासों में तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का व्यापक रूप में चित्रण किया है। 'नीला चाँद' ऐतिहासिक उपन्यास परम्परा की अगली कड़ी है। इसका प्रकाशन 1988 में हुआ। इसी उपन्यास के कारण शिवप्रसाद जी वर्तमान में प्रयत्नशील रचनाकार के रूप में सामने आते हैं। इस उपन्यास से लेखक ने तद्युगीन राजनीतिक परिस्थितियों के गहन अध्ययन का पता चलता है। तुर्कों के आक्रमण, युद्ध की वीभत्सता, चोरी, लूट–मार, बलात्कार, आदि के द्वारा मध्ययुगीन भारत की परिस्थिति का यथार्थ वर्णन किया है। इस उपन्यास में कीरत को राजनीति का ज्ञाता कहा गया है। वह राजनीति के पथ को कठोर मानता है– ''राज–काज अधियारा सा व्रत है। इसे बहुत अभ्यास और सन्तुलन द्वारा ही निभाया जा सकता है।''[12]

इस प्रकार शिवप्रसाद सिंह ने अपने कथा–साहित्य में तत्कालीन परिवेश के अनुसार नेताओं का चित्रण किया है। मूलतः राजनीतिक खेमेबाजी से दूर रहने वाले विचारधारा के रचनाकार होने के बाद भी समय सापेक्ष नेताओं पर पड़ने वाले प्रभाव को भी उजागर किया है। प्रत्येक काल में नेताओं के दो रूप रहे हैं। एक समाज को विकास मार्ग पर करने में

प्रयासरत त्याग का जीवन जीने वाले दूसरे समाज को अंग्रेजियत की नीति पर 'फूट डालो राज करो' की नीति पर चलकर मानवता का शोषण करने वाले। इसी राजनीतिक नैतिकता के भयावह, अमानुषिक तथा अवन्दनीय प्रभाव से तंग आकर शिवप्रसाद कह उठते है– ''अपने देश की राजनीति से, पार्टियों से, नेताओं से, न्यायधीशों से, विधानसभाओं से, अपने से और सबसे मुझे घृणा है।''[13]

संदर्भ ग्रन्थ सूची –

1. शिवप्रसाद सिंह, कहानी–संग्रह– एक यात्रा सतह के नीचे, कहानी– बेजुबान लोग, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण–2005, पृ0 225
2. शिवप्रसाद सिंह, कहानी–संग्रह– एक यात्रा सतह के नीचे, कहानी– भेडिए, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण–2005, पृ0 270
3. शिवप्रसाद सिंह, अलग–अलग वैतरणी, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, छठवाँ संस्करण–2004, पृ0 212
4. वही, पृ0 290
5. वही, पृ0 227
6. शिवप्रसाद सिंह, औरत, राजपाल प्रकाशन नयी दिल्ली, संस्करण–2003, पृ0 24
7. शिवप्रसाद सिंह, शैलूष, नेशनल पब्लिशिंग हाउस नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण–1989, पृ0 30
8. वही, पृ0 28
9. वही, पृ0 12
10. शिवप्रसाद सिंह, गली आगे मुड़ती है, राधाकृष्ण प्रकाशन नयी दिल्ली, पहली आवृत्ति संस्करण–2010, पृ0 40
11. अरूणेश नीरन (संपा0), शिवप्रसाद सिंह, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण–1994, पृ0 84
12. शिवप्रसाद सिंह, नीला चाँद, वाणी प्रकाशन नयी दिल्ली, पृ0 12
13. शिवप्रसाद सिंह, बूढा बसन्त और मैं, पृ0 52

संस्कृत साहित्य में पर्यावरण चेतना

डॉ. योगेन्द्र वरूण शंकर तिवारी

असिस्टेंट प्रोफेसर, प्रभारी संस्कृत विभाग
सर्वेश्वरी स्नातकोत्तर महाविद्यालय
धनुहॉ, चाका, नैनी, इलाहाबाद

पर्यावरण शब्द से उन सभी तत्त्वों का ज्ञान हो जाता है जो हमें चारों ओर से घेरे हुए हैं, यथा – पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश जो हमें चारो ओर से घेरे हुए है और इसे ही हम पर्यावरण के नाम से सम्बोधित करते हैं। ये समस्त तत्त्व मानव जीवन को प्रभावित करते हैं या यों कहा जाए कि मानव का जीवन इन्हीं पर निर्भर है। अर्थात् मानव और पर्यावरण में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इसी कारण से भारतीय संस्कृति में प्रकृति की जीवन्तता को इस सीमा तक स्वीकार किया गया है कि मनुष्य को प्रकृति से पूर्णतया अलग कर देने का कोई स्थान और समय ही नहीं है क्योंकि मानव प्रकृति या पर्यावरण का अविभाज्य अंग है। वैदिक ऋषियों ने प्राकृतिक तत्त्वों के रहस्यों को देखा ही नहीं अपितु वे मानव मन की चंचलता से भी सुपरिचित थे अतः कहीं मानव स्वार्थ लोलुप होकर प्रकृति का अत्यधिक दोहन कर स्वयं अपने विनाश को आमंत्रित न कर ले इस हेतु उन्होंने प्रकृतिक तत्त्वों में देवत्व की स्थापना की। जिससे मानव चाहकर भी उन देवस्वरूप तत्त्वों को हानी न पहुॅचा सके तथा साथ ही वह उनके संरक्षण तथा संवर्धन के लिए भी तत्पर रहे। परि + आ उपसर्ग पूर्वक वृ धातु से ल्युट् प्रत्यय जुडकर बना है। पर्यावरण शब्द का अर्थ है चारो ओर का घेरा अर्थात् प्रकृति में जो भी हमारे चारो ओर का आवरण अर्थात् हमारे चारो ओर जो वातावरण है जिसका हम प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अनिवार्य रूप से उपभोग करते हैं उसे पर्यावरण कहते हैं।

हमारे पर्यावरण के दो मुख्य अंग है– एक भौतिक पर्यावरण तथा दूसरा जैव पर्यावरण। भौतिक पर्यावरण में स्थल, जल और वायु जैसे अजैव तत्व शामिल हैं जैव पर्यावरण में पेड़ पौधे और छोटे–बड़े सभी जीव–जन्तु सम्मिलित हैं। पर्यावरण के भौतिक तत्वों भूमि, जल और वायु के बीच पदार्थों और उर्जा का परिसंचरण होता है। इसी परिसंचरण से सभी जीवों के लिए अनुकूल पर्यावरण बनता है। पर्यावरण प्रदूषण आज विश्व की सबसे बड़ी समस्या है। प्रदूषण का साधारण अर्थ है– पर्यावरण का दूषित होना, अर्थात् प्रकृति की अनुपातिक संरचना में मूलभूत परिवर्तन होना। स्वच्छ पर्यावरण प्रकृति का अनुशासित एवं संतुलित रूप है– इस अनुशासन व संतुलन के बिगड़ने से ही प्रदूषण उत्पन्न होता है। वर्तमान में पर्यावरण में मुख्यतः पांच प्रकार के प्रदूषण दृष्टिगोचर होते हैं– जल प्रदूषण, वायु प्रदूषण, ध्वनि, भूमि प्रदूषण, रेडियोधर्मी या विकिरण प्रदूषण। पर्यावरण निवारण और नियंत्रण अति आवश्यक है। पर्यावरण एवं वन मंत्रालय ने 1992 में प्रदूषण नियंत्रण का नीतिगत घोषणा–पत्र जारी किया है। भारत सरकार ने प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड का गठन किया है। संस्कृत साहित्य में पर्यावरण का

उल्लेख विस्तृत रूप से किया गया है। वैदिक साहित्य, ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि में पर्यावरण के विषय में वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्र, चरकसंहिता, महाभारत, महाकाव्य, नाटक, गीतिकाव्य, कथा, साहित्य, गद्यसाहित्य आदि में भी पर्यावरण के विषय में उल्लेख किया गया है।

भारतीय चिन्तन का निहितार्थ सर्वजन हिताय ही रहा है। प्राकृतिक अनुराग और प्रकृति की चिरन्तन शाश्वत धारा है भारतीय संस्कृति। भारतीय मनीषियों ने समूची प्रकृति ही क्या सभी प्राकृतिक शक्तियों को देवता स्वरूप माना। हमारे पूर्वज प्राकृतिक मानदेयों जैसे– सूर्य चन्द्रमा, पृथ्वी, नदियाँ, समुद्र, झीलों आदि को देवी–देवताओं की तरह पूजते थे। ये सभी मानव कल्याण और जीवन के सभी क्षेत्रों में उत्थान के माध्यम थे। हमारे वेद–वेदान्त, स्मृतियाँ, पुराणों, उपनिषदों में भी पौधों और वनस्पतियों की सुरक्षा की बात कही गयी है। इस प्रकार चिन्तन और चिन्ता हमारी संस्कृति का मूलसूत्र और हमारी विरासत है।

मनुष्य के सांस्कृतिक उत्थान में प्रकृति और पर्यावरण का विशेष योगदान रहता है क्योंकि मनुष्य की जीवन शक्ति, उसकी जीवन–चर्या उसके चारों तरफ के परिवेश, जलवायु, मिट्टी, पेड़–पौधे, जीव–जन्तु, पशु–पक्षियों से समन्वयात्मक होती है। हमारी प्राचीन, ऋषि परम्परा और कृषि–परम्परायें हमारी सभ्यता ही नहीं वरन् संस्कृति भी पर्यावरण की पोषक रही है। इस दृष्टि से विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भारतीय संस्कृति को ''अरण्य संस्कृति'' कहा है– ''भारतीय संस्कृति न गांवों की है और न ही शहरों तथा नगरों की भारत की संस्कृति तो ''अरण्य संस्कृति'' है। हमारे इतिहास, परम्परा, दर्शन और संस्कृति का निर्माण ''अरण्य'' से ही हुआ है। महान ऋषि, महर्षि, विद्वान, दार्शनिक, तपस्वी अरण्य में ही रहे और अपने क्रियाकलापों से भारतीय मानस को प्रभावित किया।''[1] आरम्भ से वृक्षारोपण, वृक्षसिंचन, और संरक्षण एक पवित्र कार्य स्वीकार किया गया है जबकि उन्हें काटना एक मनुष्य के वध के समान महापातक कहा गया है। ऋग्वेद का **'अप–सूक्त'** तो जल पर लिखी विश्व की पहली कविता है। इसकी हिन्दी रूपान्तरित कुछ पंक्तियां ध्यान देने लायक हैं– **''जलज्योतिर्मय यह आँचल है, जहाँ खिला यह सृष्टि कमल है, जल ही जीवन का सम्बल है।''**[2] ऋग्वेद में ही पृथ्वी और आकाश को माता–पिता की संज्ञा दी गयी है अर्थात् पृथ्वी की उर्वरा शक्ति आकाश के जल पर ही निर्भर है। ऋषि विश्वामित्र भी पर्यावरण के प्रति निवेदन करते हुए कहते हैं–

''ऊँ भूभुर्वः स्वः तत्सवितुर्वरिण्यं भर्गो देवस्य धीमहिः धियो यो न : प्रचोद्यात्।।''

पुनः विश्वकल्याण की भावना से ''यजुर्वेद'' के ऋषि सूर्य की स्तुति करते हैं– **''विश्वानि देव सवितदुरितानी परासुवः यद् भद्रं तत्र आसुव''।** समग्र वैदिक वाङमय वैज्ञानिक दृष्टिकोंण और उपलब्धियों का सर्वोत्तम कोष रहा है। मंत्रदृष्टा ऋषियों ने जीवनदायिनी उषा, पृथ्वी, जल, पेड़–पौधे, सूर्य, वन, औषधि आदि प्राकृतिक शक्तियों की अर्न्तभावना से अभ्यर्चना करते हैं। ये सभी पर्यावरण के संघटक तत्व हैं। इन सभी को देव के नाम से अभिहित किया गया है, जिसका आशय दिव्यगुणों से पर्यावरण को शुद्ध और जीवनानुकूल बनाना है। चार्वाक दर्शन में पंचभूत तत्वों का, अथर्ववेद में संसार को जीवन–शक्ति प्रदान करने तथा समस्त गतिविधियों के प्रवर्तक के रूप में व्याख्यायित किया है। पर्यावरण संरक्षण और संतुलन की

दृष्टि से शिवपुराण, तो अग्निपुराण किसी भी प्रकार के प्रदूषण को रोकने हेतु तत्पर दिखाई देता है। ''पतंजलि ने अपने ''महाभाष्य'' में पेड़–पौधों का उच्चस्थान देते हुए उसकी उपासना की बात की है तो 'कौटिल्य'' ने अपने ''अर्थशास्त्र'' में प्रकृति के असंतुलित होने से भयावह परिणामों के लिए सचेत किया है। महाभारत में भी पर्यावरण व समाज के सामंजस्य से ही स्वच्छ एवं स्वस्थ समाज की परिकल्पना की गई है तथा वृक्षों को पुत्र के समान मनुष्यों को तारने वाला और यश प्रदान करने वाला बताया गया है–

''पुष्पिता फलवन्त[2] तर्पपतीह मानवान् वृक्षदं पुत्रवत् वृक्षास्तारयन्ति परत्रतु''।[3]

कालिदास जी के ''ऋतुसंहार' में वर्णित 'बारहमासा' और वह ऋतुवर्णन जहाँ भारतीयों के प्रकृति प्रेम को प्रदर्शित करता है, वही मेघदूतम का मेघ जीवन रूपी जल बरसाकर ग्रीष्म से संतप्त धरती की प्यास भी बुझाता है, वह हमें धन–धान्य से परिपूर्ण करता है और पर्यावरण तथा हरियाली का श्रेष्ठ वरदान भी प्रदान करता है जो कृषि जीवन का आधार है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् की शकुन्तला अपनी सखी अनुसूया से कहती है वह केवल पिता की आज्ञा से ही वृक्षों को नहीं सींचती बल्कि इन्हें मैं सहोदर जैसा प्यार भी करती हूँ–

''न केवलं ततनियोग एक। अस्ति में सोदर स्नेहोऽख्येतुषु''[4]

ऋग्वेद (1/1/9)[5] के एक मन्त्र में अग्नि देव से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि **हे अग्नि!** तुम हमारे लिए सुप्राप्य बनो। जैसे एक पिता अपने पुत्र के लिए होता है तथा हमारे कल्याण के लिए हमारे साथ रहो। यजुर्वेद (36/17)[6] के एक मन्त्र में संसार के समस्त पदार्थों में शान्ति रहे इस विषय में प्रार्थना की गई है। मन्त्र निम्न हैं–

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी। शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।।

अथर्ववेद (12/1/12) के एक मन्त्र में ऋषि ने पृथ्वी को माँ कहा है तथा अपने को पुत्र। मंत्र निम्न हैं। यथा– **माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।**[7] अर्थात् भूमि मेरी माँ और मैं इसका पुत्र हूँ। पृथ्वी द्वारा सबको धारण करने, पोषण करने व सुरक्षा देने के कारण माता कहा गया है किन्तु ऋषि ने स्वयं को पुत्र कहा। इसके पीछे माता के प्रति पुत्र के समस्त उत्तरदायित्वों का रहस्य छिपा है। माता जिस प्रकार पुत्र का पालन–पोषण करती है उसी प्रकार पुत्र भी अपने समस्त कर्त्तव्यों का निर्वाह करते हुए भूमि को नुकसान न पहुँचाए। ब्राह्मण ग्रन्थ में भी पर्यावरण के संकेत मिलता है। **शतपथ ब्राह्मण (11/5/6/7)** में पर्यावरण के विषय में लिखा है– **अरण्याध्ययनादेवद् आरण्यकमितीयते। अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते।।**[8]

उक्त मन्त्र में पञ्च महायज्ञ का वर्णन मिलता है जो पर्यावरण संरक्षण की दृष्टि को इंगित करता है। **आरण्यक** ग्रन्थ में भी पर्यावरण का उल्लेख मिलता है। आरण्यकों के मतानुसार यज्ञ ही विश्वनियन्ता है। **उपनिषद्** ग्रन्थों में भी पर्यावरण को सुरक्षित रखने का उल्लेख मिलता है। पर्यावरण संरक्षण की जो समृद्ध परंपरा प्राचीनकाल से शुरू हुई, वह अनवरत जारी है। प्रकृति और पर्यावरण के प्रति हमारा जो सम्मान–भाव हैं, जो हमें हमारे दर्शन से प्राप्त हुआ है, उसी का यह परिणाम है कि पर्यावरण की दृष्टि से विश्व के दूसरे देशों की तुलना में भारत की स्थिति आज भी बहुत अच्छी है। इस सन्दर्भ में यहाँ पर कुछ

समय पूर्व 'नेशनल जियोग्राफिक सोसाइटी' द्वारा कराये गये उस सर्वेक्षण की रिपोर्ट का हवाला देना आवश्यक है। नेशनल जियोग्राफिक सोसाइटी ने 17 देशों के उपभोक्ता व्यवहार का आकलन करने के बाद जो ग्रीन डेस्क सूचकांक तैयार किया उसमें 58.9 अंकों के साथ भारत पहले स्थान पर रहा, जबकि अमेरिका जैसा विकसित और उन्नत देश 44.7 अंकों के साथ अंतिम पायदान पर रहा। रिपोर्ट में यह कहा गया है कि भारत के उपभोक्ता पर्यावरण और हरियाली के प्रति कहीं अधिक सजग चेतन और संवदेनशील हैं। रिपोर्ट में बताया गया है कि भारत में प्राकृतिक संसाधनों का दोहन सबसे कम है और यहाँ के उपभोक्ता पर्यावरण के प्रति गंभीर हैं। सबसे खास बात यह है कि भारत की इस उपलब्धि का श्रेय उसकी उस सनातनी संस्कृति को दिया गया, जिसमें प्रकृति को देवतुल्य माना गया है। स्पष्ट है कि पर्यावरण संरक्षण का भारतीय दर्शन आज भी विश्व में अग्रणी है और हम पर्यावरण के प्रति अपने दायित्वों को पूरे समर्पण व आस्था के साथ निभाते चले आ रहे हैं।[9]

मानव आदि काल से ही प्रकृति के संरक्षण एवं संवर्धन के प्रति सचेत रहा है। **वेदों** में प्रकृति को देवत्त्व प्रदान करके उनके प्रति जन–सामान्य के हृदय में श्रद्धा उत्पन्न की गयी। जिससे मनुष्य प्राकृतिक तत्त्वों की उपासना के साथ ही उसकी सुरक्षा एवं स्वच्छता की भी व्यवस्था करने लगा। **पुराणों** में भी पर्यावरण के विषय में उल्लेख मिलता है। विष्णुपुराण (1–5) में जल प्रदूषित न हो इस बात का उल्लेख किया गया है। यथा–

दूरादावसथान्मूत्रं पुरीषं च विसर्जयेत्। पादावनेज नोच्छिष्टे प्रक्षिपन्ने गृहांगणे।।[10]

उक्त मन्त्र का भावार्थ यह है कि अपने निवास स्थान से दूर जाकर मल–मूत्र त्याग करना चाहिए। पैर धोया हुआ हो और जूठा जल अपने घर के आँगन में न डालें। **कौटिल्य अर्थशास्त्र** में भी प्रदूषण एवं प्रदूषण को उत्पन्न करने वाले के लिए कठोर दण्ड व्यवस्था का वर्णन मिलता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र (3/12) में लिखा है– ''किसी के घर में दुःखोत्पादक वस्तु के फेंकने पर 12 पण दण्ड का विधान था। छोटे पशुओं, बूढ़े पशुओं के आघात करने पर दुगुना जुर्माना देना पड़ता था। नगर के समीप के छायादार वृक्षों फूल वाले और फल वाले वृक्षों तथा वनस्पतियों की डाल को तोड़ने पर 6 पण, शाखाएँ तोड़ने पर 12 पण और तना तोड़ने पर दण्ड का विधान था।[11] मनुस्मृति (4/73) में मनु लिखते हैं कि मनुष्य को रात्रि में वृक्षों के नीचे न जाने को कहा गया है– **रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत्।**[12]

रामायण एवं महाभारत में भी पर्यावरण के विषय में विस्तृत रूप में उल्लेख किया गया है। रघुवंश महाकाव्य में भी पर्यावरण के संरक्षण के विषय वर्णन किया गया है। रघुवंश में शंकर एवं पार्वती के द्वारा वृक्षों को पुत्रवत पालने का वर्णन किया गया है। उल्लेख मिलता है कि ''देवदारु वृक्ष को पार्वती जी के द्वारा सींचकर पुत्रवत् पालने का वर्णन किया है। शंकरजी इसे अपने पुत्र के समान मानते हैं। जंगली हाथी देवदारु के तने से रगड़–रगड़ कर अपनी कनपटी खुजलाने लगा, उससे इसकी छाल छिल गयी। पार्वती जी को उतना ही शोक हुआ जितना दैत्यों के बाणों से घायल कार्तिकेय को देखकर हुआ था।[13] कुमारसम्भव, अभिज्ञानशकुन्तल, नैषधीयचरित, कल्हण की राजतरंगिणी, विक्रमोर्वशीय मालविकाग्निमित्र, मुद्राराक्षस, गीतिकाव्य आदि संस्कृत ग्रन्थ में पर्यावरण के विषय में विस्तृत रूप में वर्णन किया

गया है। रामायण में भी पर्यावरण के विषय में महर्षि वाल्मीकि जी ने उल्लेख किए हैं। रामायण के बालकाण्ड (2/15) में कथा प्रसिद्ध है जब व्याध के बाण से विधे हुए क्रौंच के लिए विलाप करने वाली क्रौंची का करुण शब्दऋषि ने सुना, तो उनके मुँह से अकस्मात् यह श्लोक निकल पड़ा– **मा निषाद प्रतिष्ठास्त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।**[14]

प्रस्तुत श्लोक का भावार्थ यह है कि ''हे निषाद्! तूमने काम से मोहित इस क्रोंची पक्षी को मारा है, तुम सदा के लियें प्रतिष्ठा प्राप्त न करो। उक्त बात से पता चलता है कि महर्षि वाल्मीकि जी में जीव के प्रति संवेदना कितना अधिक था। महाभारत में भी कई श्लोकों में पर्यावरण का उल्लेख मिलता है। महाभारत के अनुशासन पर्व (58.21) में पर्यावरण के विषय में महर्षि व्यासजी ने लिखे हैं– ''वृक्ष, गुल्म, लता, तृण के रोपन से परिवर्धित पुष्प–फलों की प्राप्ति बताई हैं तथा पुत्रों के समान पालने का सन्देश दिया है। श्लोक निम्न हैं– **तस्य पुत्रा भवन्त्येत पादपा नात्रसंशयाः।।**[15] अभिज्ञानशाकुन्तल में भी पर्यावरण के विषय में उल्लेख हैं।

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या, नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः, सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।।[16]

अर्थात् उक्त श्लोक का भावार्थ यह है कि इसमें काश्यप ऋषि तपोवन के वृक्षों से शकुन्तला के विषय में कह रहे हैं– ''जो शकुन्तला तुम्हें जल पिलाए बिना (स्वयं) जल पीने का विचार नहीं करती थी, जो आभूषण प्रेमी होने पर भी तुम्हारे प्रति प्रेम के कारण (तुम्हारे) नये पत्तों को नहीं तोड़ती थी, तुम्हारे प्रथम पुष्प निकलने के समय जिसका उत्सव होता था, वह घर शकुन्तला (सम्प्रति) अपने पतिगृह को जा रही है, तुम सब अपनी स्वीकृति दो। उक्त श्लोक से पता चलता है कि महाकवि कालिदास जी ने पर्यावरण को कितने अधिक महत्त्व देते थे। महाकवि कालिदास जी ने अपनी कृति विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थ अंक के तीसवें (30) श्लोक में पशु–पक्षियों के जल सम्बन्धित आवश्यकता का वर्णन करते हुए कह रहे हैं–

मेघश्यामा दिशो दृष्ट्वा मानसोत्सुक–चेतसाम्। कूजितं राजहंसानां नेदं नूपुर–शिञ्जितम्।।[17]

अर्थात् उक्त श्लोक का भावार्थ यह है कि बादलों से घिरी श्यामली दिशाओं को देखकर मानसरोवर को जाने को मन लगाये राजहंसो की ध्वनि जैसी यह नूपुरध्वनि नहीं है। अन्त में निष्कर्ष रूप में हम अपना विचार इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं कि मानव की समृद्धि उसकी शान्ति है, शान्ति तभी सम्भव है जब वह चतुर्दिक तनाव से मुक्त हो तथा यह वातावरण की शुद्धता पर ही निर्भर करता है। वेदों में यज्ञों का सम्पादन इसी तथ्य को प्रमाणित करता है। आज हम 21वीं सदी में प्रवेश कर चुके हैं तथा 20वीं सदी से ही पर्यावरण संरक्षण के नारे विकसित एवं विकासशील देशों द्वारा लगाये जा रहे हैं। चाहे वह रियो सम्मेलन हो अथवा अन्य सम्मेलन। यह यक्ष प्रश्न आज सहज ही उठ खड़ा होता है कि अभी तक की इस क्षेत्र में हमारी उपलब्धियाँ क्या हैं ? यदि हम 1972 ई0 से हुए आज तक के प्रयासों पर दृष्टिपात करें, तो ये नगण्य ही हैं। इसका कारण हमारा अयथार्थ चिन्तन है। इसके मूल को समझने के लिए हमें भारतीय संस्कृति के तत्वों में झाँकना होगा तथा यह नारा लगाना होगा कि 'प्राचीनता के मूल पर आधुनिकता का विकास हो' 'धरती हमारी माँ है तथा हम धरती के पुत्र हैं' यदि इस आधार पर संसाधनों का दोहन होता है तो निश्चित रूप से विश्व कल्याण की भावना स्वयं

प्रकट हो जायेगी, जिसका उल्लेख प्राचीन भारतीय वाङ्मय में प्रस्फुटित है। आज परिस्थिति यह है कि समाज के प्रत्येक वर्ग को पर्यावरण संरक्षण के महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व से संबंधित होना होगा तभी समस्त मानव–जीवन सुखमय हो सकेगा।

'प्यास कहती है, चलो रेत निचोड़ी जाए, वरना हिस्से में समंदर नहीं आने वाला।'

सन्दर्भ

1. पर्यावरण की संस्कृति– शुभु पटवा पृ0सं0–13
2. ऋग्वेद–अपसूक्त– 10/9/4 (शं नो देवरी अभिष्ट्य आयो भवन्तु पीयन्ते शं योर अभिस्तवन्तु नः)
3. महाभारत (अनुशासन पर्व) पृ0सं0–30
4. अभिज्ञानशाकुन्तलम–कालिदास अंक–1 पृ0सं0–42
5. ऋग्वेद 1/1/9
6. यजुर्वेद 36/17
7. अथर्ववेद 12/1/12
8. शतपथ ब्राह्मण 11/5/6/7
9. परीक्षा मंथन : पर्यावरण विशेषांक, 2013–14 पृ0 4, 5.
10. विष्णुपुराण 1/5
11. कौटिल्य अर्थशास्त्र 3/19
12. मनुस्मृति 4/73
13. पुष्पा शर्मा, महाकवि वाणभट्ट का पर्यावरण चिन्तन, पृ.–63
14. रामायण (बाल्यकाण्ड), 2/15
15. महाभारत (अनुशासन पर्व), 58/21
16. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4/9
17. विक्रमोर्वशीय 4/30

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अभिज्ञानशाकुन्तल (कालिदास प्रणेता), शिवबालक द्विवेदी, हंसा प्रकाशन, जयपुर, 2009
2. विक्रमोर्वशीय (कालिदास प्रणेता), परमेश्वरदीन पाण्डेय, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2001
3. पुष्पा शर्मा, महाकवि बाणभट्ट का पर्यावरण चिन्तन, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2011
4. ऋग्वेद संहिता, स्वाध्याय मण्डल, औंध, 1940
5. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, दयानन्द सरस्वती, वैदिक यंत्रालय, अजमेर,1935
6. सामवेद संहिता, स्वाध्याय मण्डल, औंध, 1996
7. यजुर्वेद संहिता, स्वाध्याय मण्डल, औंध, 1984
8. अथर्ववेद संहिता, वैदिक यंत्रालय, अजमेर, सं. 2001
9. रामायण (महर्षि वाल्मीकि), गीताप्रेस, गोरखपुर, 2054
10. रघुवंश (कालिदास प्रणेता), हरगोविन्द शास्त्री, वाराणसी, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, 1953
11. हम और हमारा पर्यावरण, हरीशचन्द्र व्यास, आलोक प्रकाशन बीकानेर, 1989
12. आधुनिक जीवन और पर्यावरण, दामोदर शर्मा, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004

चन्द्रकान्ता जी के उपन्यास में कथानकः ''यहाँ वितस्ता बहती है'' के विशेष सन्दर्भ में

प्रेमलता मिश्रा

शोध छात्रा
हिन्दी विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
email - p.latamishra33@gmail.com

चन्द्रकान्ता जी का 'यहाँ वितस्ता बहती है' उपन्यास तीन पीढ़ियों की यादों को समेटता हुआ एक मर्मस्पर्शी उपन्यास है। कश्मीर के जनजीवन का यह एक दस्तावेज है। इसकी कहानी स्वाधीनता के पूर्व के कश्मीर की और स्वाधीनता के बाद बदलते जीवन–मूल्यों की है। प्रकाशकों का यह दावा गलत है। यह उपन्यास तीन पीढ़ियों की नही अपितु राजनाथ के तीन बीबियों की कहानी है। कश्मीर में वे रहते हैं। इतना ही कश्मीर से सम्बन्ध है। स्वाधीनता के पूर्व नावों और तांगेवालों का जमाना था। अब टैक्सी, थ्री व्हीलर और मिनी बसों का जमाना है। नावें तो सिर्फ डल लेक, नेहरू पार्क और गगरीबल तक ही सीमित है। स्वाधीनता के बाद आये बदलाव, आतंकवादी आदि का हलका सा उल्लेख किया है। सच पूछा जाए तो इनके कारण कश्मीर में कोई टूरिस्ट नहीं आ रहे है। चन्द्रकांता जी का यह कथन भी अर्द्ध सत्य है कि उन्होंने इस उपन्यास में अपने पिता के बारे जो लिखा है ठोक–बजाकर लिखा है। कोई भी आँख खोलकर देखे तो सही–गलत दिखाई देगा। उपन्यास पढ़ने पर उनका यह दावा भी गलत सिद्ध होता है। कारण, राजनाथ की सेक्स की कमजोरियों की ओर उन्होंने नजरअंदाज किया है। उनके सारे मित्रों ने खुली जगहों में भीड़ भड़क्के से दूर, पार्को की हरियाली और पहाड़ी के सायों में अपने बंगले बनाए जब कि राजनाथ ने तीनों तरफ से अनवरत चलने वाली किचकिच–बमचख और किस्म–किस्म के शोर वाली जगह में मकान बनाया। उनके घर के तीनों तरफ बजाज, किरानी, लुहार, दर्जी, इत्रवाले, सुनार आदि की बस्ती थी। आगे सिर्फ वितस्ता बहती थी।

चन्द्रकांता जी ने एक स्थान पर लिखा है कि, ''क्या जिन्दगी जी राजभाई ने। जहाँ कदम रखा, लोग आदर–भाव से झुक–झुक गये। क्या इज्जत मिली कि राजा–महाराजाओं को भी नसीब न होगी।''[1]

कब और कौन सी इज्जत मिली इसका जिक्र नहीं है। उलटे पहली पत्नी के बीमार पड़ते ही उन्होने अपने काश्तकार की बेटी गौरी पर डोरे डाले। दुगने उम्र पर भी उन्होंने उससे शादी की। पहली पत्नी ने ही मना कर दिया, अन्यथा उसके भाई तो कोर्ट में जा रहे थे। गुलकाका उनकी दूसरी शादी की कहानी सुनाते थे। सुभद्रा के भाई वंशी और श्यामलाल

राजनाथ की जान के दुश्मन बन गये थे। उनके साथ समाज का एक बड़ा वर्ग राजनाथ के विरूद्ध वाही–तबाही बकने लगा था। समाज उन्हें बार–बार अहसास करा रहा था कि वे अपराधी हैं। सुभद्रा यदि भाइयों का साथ देती तो वे जेल जाते। कमलेश्वरी की बहन कह रही थी कि, ''एक को बिठा रखा है मायके में और दूसरी के साथ हनीमून।''[2] दूसरे लोगों का कहना था, ''मर्द ठहरा भौरा, दस डाल बैठे तो भी दोषी नहीं होता। ..... मन तो पुरूष का है, सो डोलेगा ही। इंद्र का मन नहीं डोला था सती अहिल्या पर और वह अपने विश्वामित्र तपस्वी मेनका पर रीझे कि नहीं ?[3]

गौरी को लाने के बाद तमाम मिलने–जुलने वाली के लिए घर के दरवाजे बंद कर दिये। गौरी से भी कहा था कि इधर–उधर की बातों पर ध्यान न दें। लोकलाज के कारण ही वे गौरी को मेले–ठेले में घूमने नहीं ले गए। जैसे ही गौरी को बेटी हो गयी सुभद्रा ने प्राण छोड़ दिए। उपन्यासकार ने सुभद्रा को जानबूझकर हटा दिया अन्यथा राजनाथ आलोचना के शिकार होते। रिश्तेदारों को इसके अतिरिक्त भी शिकायतें थीं कि उन्होनें उनके लड़कों का भी नुकसान ही किया है। मुकमंदलाल जैसे लोग तो उनसे दो–दो हजार लेकर मुकर गए।

राजनाथ के विषय में श्याम भाई आदि का कहना था कि नारी के विषय में उनके विचार बड़े ऊँचे थे। वे या तो 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' कहते थे या ''वूमन व्हेन यू वॉक बिजली इन योर हाउसहोल्ड सर्विसेज, योर वॉइस सीम्ज लाइक दैट ऑफ ए हिलस्ट्रीम रनिंग थू इट्स पेब्लज..... ।[4]

परन्तु वे गौरी के हों या फिर विधवा देवकी के चक्कर में कैसे पड़े, समझ में नही आता ? एक स्थान पर लेखिका ने लिखा है कि आजादी के पूर्व उनका घर राजनीति की प्रयोगशाला बना था। पर न तो उन्हें जेल हुई न उन्हें गिरफ्तार किया गया। सिर्फ उन्होनें कोट–पैंट छोड़कर नेहरू जी जैसे कपड़े पहनना शुरू किया। जेठानियों और देवरानियों का तो जिक्र है किन्तु जेठ और देवरों का नहीं। वे क्या करते थे ? एक साथ रहने की ऐसी क्या मजबूरी थी? गौरी की मौत का कारण राजनाथ के रिश्तेदार है जो उसे बार–बार नींचा दिखाते थे। गौरी तो राजनाथ तक के दर्शन के लिए तरस जाती थी। निर्दोष होकर भी वह दोषी सास करार दी। राजनाथ की आज्ञानुसार उसने बीस तोले के गहने रतन की बहू को पहना दिए। उस दिन से उसने बिस्तर पकड़ लिया। गौरी के मृत्यु के बाद शंकरलाल ने कहा कि तमाम श्रम और संघर्ष के बाद जब व्यक्ति के हाथ पराजय लगती है तब कोई भी व्यक्ति साधु बनता है। पर राजनाथ ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने अपने लिए तीसरी औरत ढूँढी। वह भी चालीस वर्षीया विधवा। समाज सुधारक तो थे ही। अतः दयानंद सरस्वती, राजाराममोहनराय आदि के नियमों का ही उन्होंने पालन किया। लो संभालों अपना घर कहकर अपने अबोध बच्चे उन्हें सौंप दिए। उसे बाँझ कहकर हर स्थान पर जाने–आने पर रोक लगा दी थी। इसलिए राजनाथ ने उसकी गोद भर दी। जब लक्ष्मी चाची और अहले–मुहल्ले वालियों ने यही कहा कि देवकी जादूगरनी है। ''नहीं तो क्या कोई सोच सकता है कि सैंतालिस–पचास के आसपास की उम्र पर बच्चों वालों के सामने रहते, राजनाथ नये सिरे से बच्चे पालने का झंझट मोल ले लेगें ?''[5]

देवकी एक बार नहीं दो बार गर्भवती हो गयी। एक बार चारेक मास का गर्भपात हुआ, दूसरी बार डॉक्टरी एहतियात मे पूरे नौ मास रही, परन्तु बालक ने उसे मातृत्व का गौरव प्रदान कर अपनी आँख मूँद ली। उसके बाद देवकी विरक्त हो गयी। विराग का एक कारण यह भी कि जब पाने को कुछ शेष न रहे, जिन्दगी में कोई हौंस बाकी न रहे तब जीना है इसलिए जीना है। दवाइयों और इंजेक्शनों के जोर पर बच्चों को जन्म देने की प्रक्रिया से देवकी की सेहत गिरती गयी। वह दिनों–दिन मोटी होती गयी और एक दिन सीढ़ी पर से गिर कर मर गयी।

उपन्यास के कुछ पन्नों तक तो ऐसा लगा रहा था कि क्या राजनाथ के लिए लेखिका एकाध और पत्नी ढूँढ़ लायेगी? परन्तु ऐसा नहीं किया गया। मिन्नी जो उनकी छोटी बेटी थी, उसे मरवा दिया है। मौत के कारणों पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। अप्रत्यक्ष रूप से दहेज की कमी और शराबी पति बताया गया है। पूरे सबूत न होने के कारण उस पर मुकदमा भी दायर किया नहीं जा सका। अन्य दो बेटियों के विषय में ज्यादा जानकारी नहीं दी गयी। उसमें एक बेटी तो उपन्यास की लेखिका ही थी।

राजनाथ की तीसरी पीढ़ी का जिक्र किया है। पर उनके एक ही नाती का जिक्र है, वह क्या समझेगी, 'टेढ़े–मेढ़े रास्ते' टाईप उपन्यास बनाने के चक्कर मे अच्छे खासे उपन्यास को समाप्त कर दिया है। राजनाथ की मौत तो होनी ही थी। उसे यदि हवाई अड्डे के इंतजार कक्ष में लेखिका बताती तो और अच्छा होता पर उसने ऐसा नहीं किया। घर पहुँचने पर ही मृत्यु बतायी है। लेखिका ने एक बड़ा ही असंगत वाक्य लिखा है– ''पिता देह त्यागकर जाये या बेटी अपने घर संसार के लिए प्रस्थान करे, यह बात लगभग तय थी कि वे अब एक–दूसरे को देख नहीं पायेंगे।[6] ऐसा तो इसमें हुआ नहीं बल्कि पिता तो लड़की के घर से कुछ दिन रहकर आये है। काश लेखिका बलवाइयों द्वारा मिन्नी पर अत्याचार करवाती या राजनाथ पर ही कुछ होता तो यह कहानी अमर हो जाती। परन्तु पिता की पोल न खुले इसलिए बेटी ने बहुत सी स्मृतियों के कोष खाली नहीं किए हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची –

1. चन्द्रकान्ता– यहॉ वितस्ता बहती है, पृ0 17
2. चन्द्रकान्ता– यहॉ वितस्ता बहती है, पृ0 38
3. चन्द्रकान्ता– यहॉ वितस्ता बहती है, पृ0 39
4. चन्द्रकान्ता– यहॉ वितस्ता बहती है, पृ0 59
5. चन्द्रकान्ता– यहॉ वितस्ता बहती है, पृ0 116
6. चन्द्रकान्ता– यहॉ वितस्ता बहती है, पृ0 167

श्रीराम वनगमन का मूल्य आधारित चिंतन

डॉ0 प्रमिला मिश्रा
(सहायक आचार्या,संस्कृत विभाग)
सूर्य प्रकाश मिश्र
(सहायक आचार्य, शिक्षा विभाग)
जगद्गुरु रामभद्राचार्य विकलांग विष्वविद्यालय चित्रकूट (उ.प्र.)

प्रभु श्रीराम सांस्कृतिक पुरुष के रूप में भारतीय संस्कृति के परम आदर्श हैं। वैदिक संस्कृति की मर्यादा का सर्वोत्कृष्ट रक्षक होने के कारण मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाये। श्रीराम के वनगमन काल में सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना का जो अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया है उससे भारतीय संस्कृति सदैव गौरवान्वित रहेगी। श्री अयोध्या जी से श्रीलंका तक मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम ने पदयात्रा करते हुए चौदह वर्षों में भारतीय संस्कृति के धर्म का परिपालन कर आदर्श धर्म प्रचारक की भूमिका का निर्वाह किया।

मर्यादा पुरुशोत्तम श्रीराम के वनगमन काल के ज्ञात लगभग तीन सौ स्थलों से पता चलता है कि उनका उद्देश्य सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्यों की स्थापना करना था। उन सभी स्थलों पर जाने का उद्देश्य आध्यात्मिक मूल्यों को बल देना या पिछड़े उपेक्षित वनवासियों का आत्मबल जागृत करना तथा ऊँच–नीच का भेद–भाव मिटाना था। श्रीराम ने श्रंगवेरपुर में गंगातट पर पहुंच कर निशादराज गुह के यहाँ रात्रि विश्राम किया। और निशादराज से उनकी कुषलता पूछी। वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड में वर्णन प्राप्त होता है–

भुजाभ्यां साधुवृत्ताभ्यां पीडयन् वाक्यमब्रवीत्।।
दिश्टया त्वां गुह पष्यामि ह्यरोगं सह बान्धवैः।
अपि ते कुषलं राश्ट्रे मित्रेशु च वनेशु च।।[1]

अर्थात् फिर श्रीराम ने अपनी दोनों गोल–गोल भुजाओं से गुह का अच्छी तरह आलिंगन करते हुये कहा– ''गुह सौभाग्य की बात है कि मैं आज तुम्हें बन्धु–बान्धवों के साथ स्वस्थ एवं सानन्द देख रहा हूँ। बताओ तुम्हारे राज्य में मित्रों के यहाँ तथा वनों में सर्वत्र कुशल तो है''।

श्रीराम उत्तर भारत और दक्षिण भारत की दो संस्कृतियों का समन्वय करने हेतु रामेश्वरम् में समुद्र तट पर रामसेतु का निर्माण करते हैं। अविरल प्रवाह वाली पुनीत सरिताओं की तरह नदियों के तटों की पदयात्रा करते हुए नदियों के किनारे स्थित आश्रमों एवं उससे पल्लवित संस्कृति को प्रवाहमान बनाते हैं। प्राचीनकाल में नदियों के किनारे ही संस्कृतियों का उदय एवं विस्तार हुआ। प्रभु श्रीराम ने अयोध्या से श्रीलंका तक नदियों के किनारे–किनारे ही यात्रायें की। अयोध्या में सरयू नदी, महर्षि वाल्मीकि ऋषि से तमसा नदी, मुनि भारद्वाज जी से गंगा के किनारे, यमुना के किनारे चलते हुए, महर्षि अत्रि जी से मंदाकिनी नदी के तट पर, देवी शबरी से तुंगभद्रा के किनारे, लोमश ऋषि से दण्डकारण्य में महानदी के किनारे, नासिक

पंचवटी में गोदावरी के किनारे, श्रीलंका–कावेरी के तटों की यात्रायें कर वहॉ की संस्कृतियों का पोषण किया।

नर्मदा नदी को कुवॉरी माना जाता है और पूज्य सन्त लोग नर्मदा की परिक्रमा करते हैं तथा उसे पार नहीं करते। नर्मदा भगवान सूर्य की पुत्री हैं। भगवान श्रीराम भी सूर्यवंशी हैं। जिस कारण उस समय की मान्यतानुसार नर्मदा जी को पार नहीं किया। इससे यह स्पष्ट होता है कि श्रीराम ने परम्परागत सांस्कृतिक मूल्यों का सम्मान किया।

भगवान श्रीराम भारतीय संस्कृति की मान्यताओं का जगह–जगह सम्मान और उनकी स्थापना करते हैं। भगवान श्रीराम अपने पिता का श्राद्ध संस्कार पवित्र नदियों–सरोवरों एवं तीर्थों में करते हैं। चित्रकूट में मंदाकिनी में पृथ्वीपालक श्रीराम ने जल से भरी हुयी अंजलि ले दक्षिण दिशा की ओर मुंह करके रोते हुये इस प्रकार कहा–

एतत् ते राजषार्दूल विमलं तोयमक्षयम्। पितृलोकगतस्याद्य मद्दत्तमुपतिश्ठतु।।[2]

अर्थात् मेरे पूज्य पिता राजशिरोमणि महाराज दशरथ ! आज मेरा दिया हुआ यह निर्मल जल पितृलोक में गये हुये आपको अक्षय रूप से प्राप्त हो। इसके बाद मंदाकिनी के जल से निकलकर किनारे पर आकर तेजस्वी श्रीरघुनाथ जी ने अपने भाइयों के साथ मिलकर पिता के लिये पिण्डदान किया।

ततो मंदाकिनी तीरं प्रत्युत्तीर्य स राघवः। पितुष्चकार तेजस्वी निर्वापं भ्रातृभिः सह।।[3]

सोन तथा महानदी के पवित्र संगम में पिता के आत्मकल्याण हेतु भारतीय संस्कृति की मान्यता के अनुसार श्राद्ध तर्पण करते हैं। आज भी लोग इन स्थानों पर इसी कारण से श्राद्ध करते हैं। नासिक के पास स्थित कुशावर्त तीर्थ में भी पिता का श्राद्ध–संस्कार किया।[5] गीधराज जटायु की मृत्यु पर भी भगवान श्रीराम यथोचित मरणोत्तर श्राद्ध–संस्कार जलॉजलि प्रदान करते हैं। जिसका वर्णन वाल्मीकि रामायण के अरण्यकाण्ड से प्राप्त होता है।

षास्त्रदृश्टेन विधिना जलं गृध्राय राघवौ। स्नात्वा तौ गृध्रराजाय उदकं चक्रतुस्तदा।।[4]

अर्थात् रघुकुल के उन दोनों महापुरुशो ने गोदावरी में नहाकर षास्त्रीय विधि से उन गृधराज के लिये उस समय जलॉजलि का दान किया। इतना ही नहीं जिन आतताइयों का वध करते हैं उनका भी उनके विधि अनुसार मरणोत्तर संस्कार करने का निर्देश देते हैं।

मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम्। क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येश यथा तव।।[5]

श्रीराम बोले–'विभीषण! वैर जीवन–काल तक ही रहता है। मरने के बाद उस वैर का अन्त हो जाता है। अब हमारा प्रयोजन सिद्ध हो चुका है, अतः अब तुम इसका संस्कार करो। इस समय यह जैसे तुम्हारे स्नेह का पात्र है, उसी तरह मेरा भी स्नेहभाजन है'।

वैदिक संस्कृति के मान्यतानुसार ब्राम्हण का वध नहीं करना चाहिए। ब्राम्हण वध करने पर ब्रम्हहत्या का पाप लगता हैं। खर–दूषण, त्रिसिरा का वध करने पर ब्रम्ह हत्या स्वीकार कर उसके निवारण हेतु एक सौ आठ शिवलिंगों की स्थापना करते हैं। रावण भी ब्राम्हण है जिसके वध के पहले अपने इष्ट देवता भगवान शिव की रामेश्वरम में स्थापना करते हैं। अयोध्या वापस जाने पर रावण के वंश का संहार करने एवं ब्रम्ह हत्या दूर करने हेतु विराट अश्वमेध महायज्ञ का आयोजन श्री अयोध्या जी में करते हैं।[6]

वैदिक संस्कृति आध्यात्मिक संस्कृति है जो आरण्यकों, और ऋषि–आश्रमों में ही पल्लवित हुई। भगवान श्रीराम इन ऋषियों के सानिध्य में बैठकर गहन–चिन्तन, मनन कर समस्या का निवारण करने हेतु साहसिक प्रयत्न करते हैं। चित्रकूट में खर–दूषण के आतंक से प्रभावित ऋषियों की दशा को देखकर द्रवित होते हैं और कठिन संकल्प लेते हैं **'निशिचर हीन करहु महि भुज उठाय प्रण कीन्ह'** इस लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु आसुरी संस्कृति से सबसे अधिक प्रभावित दण्डकारण्य को अपना कार्य क्षेत्र बनाते है और पूरे वनवास काल में संघर्षरत रहते हैं। बहुत से राजर्षि और महर्षि अगस्त्य आदि महर्षि मिलकर श्री राम के पास आये और श्रीराम से इस प्रकार बोले–

एशां वधार्थं षत्रूणां रक्षसां पापकर्मणाम्।
तदिदं नः कृतं कार्यं त्वया दषरथात्मज।।
स्वधर्मं प्रचरिश्यन्ति दण्डकेशु महर्शयः।[7]

अर्थात् 'मुनियों के शत्रुरूप इन पापाचारी राक्षसों के वध के लिये ही आपका यहाँ शुभागमन आवश्यक समझा गया था। दशरथनन्दन! आपने हम लोगों का यह बहुत बड़ा कार्य सिद्ध कर दिया। अब बड़े–बड़े ऋशि–मुनि दण्डकारण्य के विभिन्न प्रदेषों में निर्भय होकर अपने धर्म का अनुष्ठान करेंगे।

भगवान श्रीराम नित्य संध्यावन्दन एवं अपने इष्टदेव की उपासना भी करते हैं। भगवान श्रीराम ब्रम्ह परमेश्वर हैं फिर भी भारतीय संस्कृति की मान्यतानुसार नित्य इष्टदेव की उपासना आवश्यक है। श्रीराम ने जाबालि के नास्तिक मत का खण्डन करके आस्तिक मत को स्थापित किया।

निर्मर्यादस्तु पुरुशः पापाचारसमन्वितः। मानं न लभते सत्सु भिन्नचारित्रदर्षनः।।[8]

अर्थात् 'जो पुरुष धर्म अथवा वेद की मर्यादा को त्याग देता है, वह पापकर्म में प्रवृत्त हो जाता है। उसके आचार और विचार दोनों भ्रष्ट हो जाते हैं; इसलिये वह सत्पुरुषों में कभी सम्मान नहीं पाता है'।

सत्यमेवानृषंसं च राजवृत्तं सनातनम्। तस्मात् सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिश्ठितः।।[9]

अर्थात् 'सत्य का पालन ही राजाओं का दया प्रधान धर्म है– सनातन आचार है, अतः राज्य सत्य स्वरूप है। सत्य में ही सम्पूर्ण लोक प्रतिश्ठित है। क्योंकि राजाओं के जैसे आचरण होते हैं प्रजा भी वैसे ही आचरण करने लगती है। ऋशियों और देवताओं ने सदा सत्य का ही आदर किया है इस लोक में सत्यवादी मनुष्य अक्षय परमधाम में जाता है। सेतुबन्ध में रामेश्वरम शिवलिंगों की स्थापना करते हैं।

भगवान श्रीराम के इस कार्य से उन दिनों के शैव और वैष्णवमतों में सांस्कृतिक समन्वय स्थापित होता है। इसलिए शिव उपासना को अपनी दिनचर्या में शामिल करते हैं। श्रीराम तीर्थों को पूर्ण महत्व देते हैं और उनमें श्रद्धा–पूर्वक स्नान करते हुए एवं उनके महत्व को स्थापित करते हैं। प्रयागराज में अक्षयवट की माता सीता पूजन करती है।

न्यग्रोधं समुपागम्य वैदेही चाभ्यवन्दत। नमस्तेऽस्तु महावृक्ष पारयेन्मे पतिर्व्रतम्।।[10]

अर्थात् वट के समीप पहुँचकर विदेहनन्दिनी सीता ने उसे मस्तक झुकाया और इस प्रकार कहा–'महावृक्ष! आपको नमस्कार है। आप ऐसी कृपा करें, जिससे मेरे पतिदेव अपने वनवास विशयक व्रत को पूर्ण करें। यमुना नदी के शीतल जल में स्नान आदि करके ऋशि–मुनियों द्वारा सेवित रमणीय एवं मनोरम पर्वत चित्रकूट पर जा पहुँचे।[11]

चित्रकूट में परम पावन मंदाकिनी में श्रद्धापूर्वक स्नान करते हैं। चित्रकूट में प्रवेश कर सर्वप्रथम वाल्मीकि ऋषि से मिलकर अपने निवास का परामर्श करते है तथा चित्रकूट में पर्णकुटी बनाकर विधिवत वास्तु देवता एवं सभी देवताओं का पूजन सम्पन्न करके ही पर्णकुटी में प्रवेश करते हैं। श्री राम सुमित्राकुमार से कहते हैं कि–

ऐणेयं मांसमाहृत्य षालां यक्ष्यामहे वयम्। कर्तव्यं वास्तुषमनं सौमित्रे चिरजीविभिः।।[12]

'सुमित्राकुमार! हम गजकन्द का गूदा लेकर उसी से पर्णषाला के अधिश्ठाता देवताओं का पूजन करेंगे; क्योंकि दीर्घ जीवन की इच्छा करने वाले पुरुशों को वास्तु षांति अवष्य करानी चाहिए।

इस प्रकार भगवान श्री राम अपने वनगमन काल में भारतीय संस्कृतिनिष्ठ धर्म दर्शन का स्वयं आचरण करते हुए दूसरों की भी अपने जीवन में धारण करने की प्रेरणा देते हैं। भारतीय संस्कृति की मान्यता के अनुसार यही अवतार का प्रयोजन भी है। जिसे पूर्णतः सार्थक सिद्ध करके भारतीय संस्कृति के प्रेरणा पुरुष बनते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची –

1. वाल्मीकि रामायण 2/50/41–42
2. वाल्मीकि रामायण 2/103/27
3. वाल्मीकि रामायण 2/103/28
4. वाल्मीकि रामायण 3/68/36
5. वाल्मीकि रामायण 6/109/25
6. वाल्मीकि रामायण 7/83/5
7. वाल्मीकि रामायण 3/30/36
8. वाल्मीकि रामायण 2/109/3
9. वाल्मीकि रामायण 2/109/10
10. वाल्मीकि रामायण 2/55/24
11. वाल्मीकि रामायण 2/56/12
12. वाल्मीकि रामायण 2/56/22

समकालीन हिन्दी कविता में स्त्री मुक्ति का संघर्ष

वीरेन्द्र प्रताप

शोध छात्र
हिन्दी विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

स्त्री मुक्ति का संघर्ष नया नहीं है, उसकी मुक्ति की कामना के उदाहरण साहित्य में और समाज में बहुत पहले से मिलते हैं। लेकिन स्त्री के संघर्ष को कभी रेखांकित नहीं किया गया। पितृसत्तात्मक समाज ने कभी उसकी आवाज को तवज्जो नहीं दिया। लेकिन इक्कीसवीं सदी का आरंभिक वर्ष 'अन्तर्राष्ट्रीय महिला सशक्तिकरण वर्ष' के रूप में मनाया गया। जिसने यह साबित किया कि स्त्रियों की आवाज को महत्व मिलना शुरू हो गया है। महत्वपूर्ण बात यह है कि इससे सिद्ध हो गया कि 1975 में घोषित 'अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष' से प्रारम्भ हुआ, 'नारी मुक्ति आंदोलन' पूर्ण रूप से युवावस्था को प्राप्त हो चुका है। इस तरह से यह निरन्तर विकसित होता हुआ प्रगति पथ पर अग्रसर है। वर्तमान उपभोक्तावाद और उत्तर आधुनिकतावाद ने स्त्री–पुरुष सम्बन्धों के समीकरण को बदलना शुरू कर दिया है। भूमंडलीकरण और बाजारवाद ने स्त्री के महत्त्व को रेखांकित किया ही है साथ ही महिलाएं स्वयं, परिवार एवं समाज में अपनी परिस्थितजन्य समस्याओं से जूझते हुए उनके समाधान की तलाश में आगे बढ़ रही हैं। अबला, असहाय, बेबस, कमजोर, जैसे विशेषणों से मुक्ति की अभिलाषा लिए महिलाएं अपने अधिकारों के प्रति अधिक सचेत और मुखरित भी हुई हैं। अपने प्रति अन्याय एवं शोषण के विरुद्ध स्त्रियों के द्वारा आवाज उठाने की, विश्व–प्रसिद्ध नारीवादी चिंतक नाओमी वुल्फ ने भूकम्प से तुलना करते हुए 1991–1992 में कहा था– ''जिन्होंने 'अर्थक्वेक' का अध्ययन किया है वे जानते हैं कि भूकम्प अचानक नहीं आते, न ही वे सम्भावनाएं होती हैं जिनका अनुमान न लगाया जा सके। वे युगों के विवर्तनिक दबाव का परिणाम होते हैं।''[1] पीढ़ियों से दबी–कुचली, दबाव को सहती नारी की मुखरता को नाओमी जेण्डर क्वेक की संज्ञा देती हैं। भूकम्पों भी घटना कितनी हृदय विदारक क्यों न हो यह जर्जर, गलीज व्यवस्था को समाप्त कर नव निर्माण का मार्ग प्रशस्त करता ही है। 91–92 के 'जेण्डर क्वेक' ने नारीवादी आन्दोलन को एक नई दिशा दी, जो आन्दोलन, समाज में महिला उत्पीड़न के विरोध स्वरूप शुरू हुआ था, वह अब नारी–शक्ति के विकास की दिशा में बढ़ चला है, अब यह अधिक गतिशील, व्यवहारिक व उग्र है। पश्चिम की तुलना में, भारत में शक्ति आधारित नारीवाद यद्यपि कुछ विशिष्ट वर्गों तक ही सीमित है तथापि इसके बढ़ते प्रभाव को रोकना अब असम्भव है।

भारत की बहुसंसख्यक स्त्रियाँ जो श्रमिक वर्ग, दलित वर्ग और निम्न आर्थिक वर्ग में आती हैं– इनके श्रम और यौन शोषण का क्रम तो सदियों से जारी था ही और उसे उसने

मूक पशुओं की तरह विधि का विधान समझकर सहन किया है। परन्तु अस्सी के दशक के बाद में जब स्वतंत्र भारत में शिक्षित और अपने पैरों पर खड़ी स्त्री की दूसरी पीढ़ी सामने आई तब स्वाभाविकतः उसने विधि का विधान मानने से इन्कार करना शुरू कर दिया। आरम्भ में परिवर्तन की इस लहर पर पश्चिम के नारी मुक्ति आन्दोलन का स्पष्ट प्रभाव था। इसका क्षेत्र बहुत सीमित था। प्रायः उच्च मध्यम एवं उच्च वर्ग की महिलाओं ने इसकी बागडोर सम्हाली। सीमित मंचीय अभिव्यक्ति और यौन–उत्पीड़न के इस प्रकरण में यदा–कदा नारेबाजी नारीमुक्ति आंदोलन का शुरूआती दौर बस इतना ही था। आन्दोलकर्ता अधिसंख्य महिलाएँ अपने कार्यक्रमों से लौटकर घर में अपनी पूर्ववत स्थिति में आ जाती थीं, स्वाभाविक रूप से बनावटी से दिखने वाले इस आन्दोलन में अधिसंख्य पुरुष वर्ग समझ ही नहीं पाता था और अक्सर एक सवाल उठ खड़ा होता था कि– ''ये औरतें आखिर चाहती क्या हैं ? जिनके लिए यह प्रश्न तब अनुत्तरित था, आज के दौर में लड़कियों और महिलाओं के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष से प्रतिस्पर्धा रखते हुए, सफलता की नित नई ऊँचाइयों को छूते देखकर समझ में आ गया होगा कि वे औरतें आखिर चाहती क्या थीं ?''[2]

स्त्रियों के लिए मुक्ति का स्वप्न अपने आप में बड़ा संघर्ष है, स्त्रियाँ कई स्तरों पर संघर्ष कर रही हैं। पितृसत्ता के वर्चस्व को तोड़ना स्त्री के लिए सबसे बड़ा संघर्ष है। पितृसत्तात्मक समाज से मुक्ति के मार्ग में स्त्री की जैविक संरचना (लैंगिक विभेद) और यौनिकता सबसे बड़ी बाधा है। सवाल यह है कि क्या स्त्री पुरुष के बिना अकेले रह पाएगी ? यही सबसे बड़ा विवाद है। दूसरे स्तर पर स्त्री को सामाजिक, राजनीतिक स्तर पर संघर्ष करना पड़ रहा है।

समकालीन हिंदी कविता में लेखिकाएँ निरन्तर स्त्री संघर्ष को चित्रित कर रही हैं। लेकिन साहित्य में स्त्री संघर्ष का मामला भी कम विवादित नहीं है। स्त्रियाँ अपने लेखन के माध्यम से जिस नए सौन्दर्यशास्त्र को गढ़ रही हैं वही आज सवालों के घेरे में है। क्योंकि स्त्री जब पुरुष के समान अधिकार या बराबरी प्राप्त करेगी तो उसे उन बाहरी दबावों को भी झेला पड़ेगा जिसे पुरुष समाज बाहर की दुनिया में झेलता है। विकसित टेक्नोलॉजी, मीडिया, विज्ञापन और बाजार को बहुतेरी नारीवादी लेखिकाएँ स्त्री मुक्ति के पक्ष में देखती है, लेकिन बहुतेरी लेखिकाएं इससे असहमति भी व्यक्त करती हैं। अनामिका, 'अबला जीवन, हलो, तुम्हारी यही कहानी' कविता में लिखती हैं– **''जाल बिछा ही रह जाएगा क्या भाई ?**

सारे चुग्गे/ खुद ही खाऐंगे क्या चुनकर/ भूखे बहेलिया ?''

अबला जीवन, हलो, तुम्हारी यही कहानी

''मुख पर डारै'' छोटी–सी मुस्कान/सुनो सब आनी–बानी।''[3]

अनामिका की यह कविता स्त्री जीवन के द्वन्द्व को उभारती है। क्योंकि जिन माध्यमों को स्त्री–मुक्ति के पक्ष में देखा जाता था कालान्तर में उन्हीं से स्त्रियों का शोषण होने लगा। बाजार ने स्त्री को श्रम का अवसर उपलब्ध कराया तो उससे पूरी कीमत वसूल करके। कारपोरेट जगत् में काम करने वाली स्त्रियों को आज–सब कुछ मुस्कुराते हुए बर्दास्त करना पड़ता है, उनके काम के घण्टों में उनके चेहरे पर तनाव, थकान नहीं, मुस्कान दिखनी चाहिए।

बाजार का स्त्रियों ने भरपूर इस्तेमाल किया अपने फायदे के लिए या बाजार ने मुनाफा कमाने के लिए स्त्रियों का इस्तेमाल किया यह भी एक द्वन्द्व है। जिसे अनिता वर्मा 'इस्तेमाल' कविता में चित्रित करती हैं– **''अब बाजार स्त्री के कदमों में है**
उसके केश सहलाता उतारता कपड़े/सामान कोई भी हो बेची जाती है हमेशा स्त्री।''[4]

उपभोक्तावाद के दौर में मीडिया स्त्री की कई तरह की छवि गढ़ रहा है। बाजार ने विज्ञापन के माध्यम से स्त्री देह का भरपूर उपयोग किया है। स्त्री के हर अंग विज्ञापन में आ रहे हैं, जिसकी वजह से स्त्री का अंतस समाप्त होता जा रहा है और स्त्री देह एक माल या प्रोडक्ट के रूप में प्रयुक्त हो रहा है। लेखिकाएं निरन्तर मीडिया द्वारा निर्मित स्त्री छवि पर हमला कर रही हैं, क्योंकि वे जिस व्यक्तित्व और गरिमा की लड़ाई लड़ रही हैं, वही व्यक्तित्व वस्तु के रूप में बदलता जा रहा है। इस छवि ने स्त्री के अस्तित्व पर संकट पैदा कर दिया है ''लेकिन स्त्री–छवि की समस्या तब और जटिल हो जाती है जब इसमें अस्तित्व तथा अस्मिता के प्रश्न शामिल हो जाते हैं। वैयक्तिक और सामूहिक अस्तित्व में संघर्ष शुरू हो जाता है। परिवार युद्ध–भूमि बन जाता है। संबंधों में दरार पड़ने लगती है।''[5]

नारीवादी चिंतक प्रभाखेतान ने लिखा है– ''एक नागरिक की हैसियत से हमें दो विरोधाभाषी प्रतिमानों का सामना करना पड़ता है जबकि इन दो में से किसी एक का चुनाव अत्यन्त कठिन है।''[6] बाहर–भीतर के बीच सामंजस्य बैठाने में ही स्त्री का जीवन समाप्त हो जाता है। रंजना जायसवाल ने 'तालमेल' कविता में लिखा है–

''खत्म होती जा रही है / समय से पूर्व स्त्री/ तालमेल बिठाने में
दुनिया बदल गयी है
दो दीवारों में/धीरे–धीरे आगे बढ़ती/गली को संकरा करती/जहाँ खड़ी है वह।''[7]

स्त्री लेखन पर बहुत दिनों तक एकांगी होने का आरोप लगता रहा। लेकिन स्त्री के बहुआयामी संघर्ष ने इस एकांगीकता को तोड़ दिया। स्त्रियाँ आज हर मुद्दे पर संघर्ष कर रही हैं और लिख रही हैं। स्त्री संघर्ष और लेखन का दायरा विस्तृत हो चुका है। स्त्रियाँ इस दौर में सिर्फ स्त्री जीवन पर केंद्रीत लेखन नहीं कर रही हैं वे दुनिया के तमाम मुद्दों को उठा रही हैं। प्रकृति–पर्यावरण, धार्मिक–राजनीतिक चिंताएं स्त्रियों के लेखन केंद्र बन रहे हैं। एकान्त श्रीवास्तव ने 'मेधा पाटकर' कविता में लिखा है– **''वह जंगल की हरियाली है**
चिड़ियों का गीत /फूलों के रंग और गंध के लिए लड़ती
जड़ों की अदम्य इच्छा है वह / वह नर्मदा की आँख है / जल से भरी हुई
जहाँ अपनी किश्तियाँ डूबने से बची हुई हैं।''[8]

इस दौर में स्त्रियाँ वृहत्तर मानवीय संदर्भ के लिए भी लड़ाई लड़ रही हैं, लगातार दूषित होती व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष कर रही हैं। सुधा उपाध्याय 'दम तोड़ता लोकतंत्र' में भारतीय जनतंत्र की खामियों को उजागर करती हैं–

''अतीत सबसे बड़ा मुंसिफ है / इस सबसे बड़े लोकतंत्र की
बेचारगी, लाचारगी का / क्योंकि अफसोस का तमगा
जिंदगी को नहीं / मौत को सुपुर्द करते हैं।''[9]

समकालीन कविता में निर्मला पुतुल आदिवासी जीवन संघर्ष की अभिव्यक्ति कर रही हैं। उनकी कविताएं वृहत्तर मानवीय समुदाय के संघर्ष की गाथा हैं। लेखिका जल, जंगल, जमीन के लिए संघर्ष की कविताएं लिख रही हैं तो लोकतांत्रिक व्यवस्था और भ्रष्ट प्रशासनिक व्यवस्था पर भी लिख रही हैं। 'कुर्सी' कविता में लेखिका ने लिखा है–

''कुर्सिया हैं तभी देश चलता है और / तभी चलती है नेताओं की नेतागिरी
कुर्सी ही तो है जिसके केन्द्र में घूमती है/देश की राजनीति और उसके प्रभाव से
गिरता–उतरता है देश का तापमान।''[10]

'अगर तुम मेरी जगह होते', 'स्वर्गवासी पिता के नाम पाती', 'तुम्हारे एहसान लेने से पहले सोचना पड़ेगा हमें', आपके शहर में, आपके बीच रहते, आपके लिए, शीर्षक जैसी कविताओं में लेखिका ने आदिवासी समुदाय को लूटने–खसोटने वाले, ठेकेदारों, दलालों, प्रशासनिक तंत्र और कारपोरेट लूट खसोट के तंत्र को उघाड़ा है।

समकालीन कविता में निःसंदेह स्त्री का संघर्ष बहुआयामी है। स्त्री जीवन–जगत से जुड़े तमाम सवालों से टकरा रही है। अनेक तरह की समस्याओं के जूझ रही है और अनेक तरह की सत्ता के खिलाफ संघर्ष करते हुए अपने लिए और वृहत्तर मानवीय समाज के लिए स्पेश क्रिएट कर रही है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची –

1. स्त्री मुक्ति का सपना, संपा0 कमला प्रसाद, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2004, पृ0 201
2. वही, पृ0 203
3. वही, पृ0 133
4. वही, पृ0 163
5. स्त्री मुक्ति के प्रश्न, देवेन्द्र इस्सर : संवाद प्रकाशन, मेरठ, प्रथम संस्करण–2009, पृ0 98
6. बाजार के बीच बाजार के खिलाफ, प्रभा खेतान, वाणी प्रकाशन, आवृत्ति–2010, पृ0 143
7. जब मैं स्त्री हूँ, रंजना जायसवाल, नयी किताब दिल्ली, प्रथम संस्करण,2009, पृ0 75.
8. स्त्री मुक्ति का सपना, पृ0 275
9. इसलिए कहूँगी मैं, सुधा उपाध्याय, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण–2013, पृ0 43.
10. बेघर सपने, निर्मला पुतुल, आधार प्रकाशन पंचकूला, हरियाणा, संस्करण–2014, पृ0 28.

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में अध्यात्म

रूचि रानी गुप्ता

शोध छात्रा
संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

''वेदानाम् सामवेदोडिस'' ये उक्ति संगीत से अध्यात्म के सम्बन्ध को स्वतः स्पष्ट करती है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि भारत देश आरम्भ से ही एक अध्यात्म प्रधान देश व धर्म प्रधान देश रहा है। हमारे समस्त भारतीय चिन्तन का मूल विषय परमेश्वर अर्थात ईश्वर की वो परम सत्ता रही है जिसने इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को उत्पन्न किया, उसे पाने की इच्छा, उस तक पहुँचने की जिज्ञासा, उसे जानने की उत्सुकता एवं उसके वैभव से अभिभूत होकर उसको अपना समस्त भाव एवं कर्म अपर्ण करने की भावना तथा इन सभी मनोभावों ने अध्यात्म चिन्तन से अनुस्यूत कलाओं को जन्म दिया है। सभी के मूल में स्थित एक ही अपर्ण का भाव उस परम सत्ता की जो हम सभी का अंशी है और हम सभी की आत्मा उसी परमेश्वर रूपी अंशी का अंश है। उसके अन्वेषण में आत्मस्थ चिन्तन करके उसकी सत्ता का अनुभव करते है तो दर्शन जन्म लेता है। उसके द्वारा प्रदत्त प्रेम का आस्वादन करते है तो विज्ञान एवं उसके द्वारा प्रदत्त प्रेम का आस्वादन करते है तो कलाएँ प्रस्फुटित होती है। वो ही जब चाहता है तो भावरूप में द्रवीभूत करके चित्त को अभिव्यक्ति करने को प्रेरित करता है और गीत, संगीत, चित्रकला, काव्य एवं स्थापत्य आदि 64 कलायें उत्पन्न होती है।

भारतीय परम्परानुसार संगीत आदि सभी कलाओं का भी अध्यात्म से अटूट सम्बन्ध होता है। यहाँ मानव जीवन के तीन आधार सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् है अर्थात सत्य ही हमेशा कल्याणकारी है और वही सुन्दर भी है और सत्य सत्ता के रूप में ईश्वर ही प्रतिष्ठित है, उनके मनों में, इस सन्दर्भ में आत्मिक शान्ति की खोज में, उस समय के भारतीय संगीत की शान्त निर्मल स्वर गंगा में अवगाहन करना चाहते है, जिससे उन्हें एक अद्भुत और अपूर्व शान्ति का अनुभव होता है, क्योंकि यहाँ का संगीत भोग से अधिक मोझ की ओर ले जाने में समर्थ है। उन्हें भी यह महसूस होने लगा कि भोग विलास में सहायक जिस संगीत का व अभी तक सेवन करते आ रहे है वह मन की शान्ति प्रदान नहीं करता। विश्व प्रसिद्ध वायलिन वादक यहूदी मेनुहिवन जिनकी स्मृति में विश्व संगीत दिवस मनाते है हम, उनके अनुसार भी भारतीय संगीत में एक प्रकार की चंचलता का अभाव है। उसके शान्ति है, धीमापन है, ... भारत में गायकों, वादकों एवं नृतकों ने संगीत की आत्मा को पहचाना है जबकि पश्चिम में संगीत के शरीर को सजाने संवारने का काम अधिक हुआ है। यद्यपि पश्चिम में भी

संगीत की गहराइयों तक उतरने के प्रयास किये गये है किन्तु उसमें भी ज्यादातर टेक्नीक को ही विकसित करने की तरफ ध्यान दिया गया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि भारतीय मानस ने संगीत के इस अध्यात्मिक स्वरूप को कैसे पहचाना इसके उत्तर में यह कह सकते है कि भारतीय साधकों एवं भक्तों का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति अथवा भगवान से भाव का सम्बन्ध स्थापित करना रहा है। उन्होंने संगीत कला का भी प्रमुख लक्ष्य वही रखा। भारतीयों की हर दैनिकचर्या का प्रमुख सूत्र अध्यात्म से किसी न किसी प्रकार जुड़ा है तो फिर संगीत तो अछूता रह ही नहीं सकता, हम उसके बिना संगीत की कल्पना भी कैसे कर सकते है जब हम अध्यात्म के बिना जीवन की कल्पना ही नहीं कर सकते।

हींगल का कथन है कि ''कला अध्यात्मिकता एवं ऐद्रिकता का विवाह है अतः दोनों में सम्बन्ध होना स्वाभाविक है।'' भक्त उपासना एवं आराधना में सभी कलायें विशेष रूप से संगीत मनुष्य को सर्वाधिक सहायता प्रदान करता है दूसरी ओर अध्यात्मपरक धार्मिक आचरण एवं अनुष्ठान कला की रक्षा एवं पोषण भी प्रदान करता है, भारत के संगीत का प्राचीनतम रूप भी मन्दिर एवं धार्मिक स्थलों के ही संरक्षण में आजतक सुरक्षित दिखाई दे रहा है। समय–समय पर दर्शन एवं संगीत दोनों एक दूसरे के पूरक बनते भी आये है। इस क्रम में संगीत शास्त्र ग्रन्थों में भी नाद एवं ब्रह्मा सम्बन्धी चिन्तन धारा दिखाई देती है। इस क्रम में उस परम शक्ति के मुख से गीता में कहलाया गया है – **नाहम् वसामि बैकुण्ठे योगिनाम हृदय न च।**

मद भंकताः यत्र गयन्तितत्र तिष्ठामि नारदः।।

अर्थात् अहंकार विहीन होकर प्रेम से जहाँ गायन होता है वहीं ईश्वर का वास है क्योंकि ईश्वर बैकुण्ठ में रहना नहीं चाहता, क्योंकि वहाँ ऐश्वर्य प्राप्ति का घमण्ड अधिक है। योगियों के हृदय में भी नहीं रहता क्योंकि वहाँ तपस्या एवं योग का अहंकार अधिक वास करता है प्रेम कम। इसलिए ईश्वर वहाँ रहता है जहाँ भक्त भाव मुग्ध होकर अपने ''मैं'' को भूलकर ''हरी बोल'' करके गायन करता है।

भारतीय विचारधारा एवं संगीत हमेशा लोक कल्याण एवं आदर्श की धरा पर प्रभावित हुआ है, उसके कण–कण में राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, अल्लाह एवं यीशू की कल्याणमयी मूर्तियाँ बसी है। आज विदेशी भी भारतीय योग एवं संगीत की ओर आकृष्ट हो रहे है, वहाँ का संगीत जहाँ का मुक्ता और अतृप्ति की ओर ले जाता है और वे भटकते है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची –

1. संगीत पत्रिका, अगस्त 2008
2. स्वर सरिता वर्ष 6, फरवरी 2014
3. संगीत निबन्ध संग्रह, प्रो0 हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव
4. तबला पुराण, विजय शंकर मिश्र
5. संगीत कला मन्दिर, मार्च 2013

लोक–साहित्य में लोक–संस्कृति का चित्रण

राहुल कुमार दूबे

शोधछात्र
हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
ईमेल–rahulkumardubey2011@gmail.com

भारतीय संस्कृति का सच्चा तथा स्वाभाविक चित्रण लोक साहित्य में उपलब्ध होता है। ग्रामीण कवि ने समाज में जिस समता या विषमता का अनुभव किया है उसका उसी रूप से चित्रांकन भी किया है। लोक साहित्य में जहाँ आदर्श पतिव्रता नारियों का उल्लेख है वहाँ ऐसी कर्कशा स्त्रियों का भी वर्णन पाया जाता है जो विधवा होने के लिए सूर्य भगवान् से प्रार्थना करती हैं। जहाँ माता और पुत्री का दिव्य प्रेम दिखलाया गया है वहाँ सास–बहू तथा भावज–ननद के कटु एवं विषाक्त व्यवहार का वर्णन भी है। भाई और बहन के निस्पृह, पवित्र और दिव्य प्रेम का वर्णन करने के लिए जो भी विशेषण प्रयुक्त किया जाय वह थोड़ा ही है। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि लोक–कवि ने जन–जीवन के उभय पक्षों–सुन्दर तथा असुन्दर–को हमारे सामने प्रस्तुत किया है। इसीलिए वह समाज के सच्चे दृश्य को स्वाभाविक रूप में उपस्थित करने में सफलीभूत हुआ है।

सामाजिक जीवन के साथ ही साथ धार्मिक जीवन का चित्रण भी लोक साहित्य में पाया जाता है। व्रत के गीतों में कहीं सूर्य की पूजा उपलब्ध होती है तो कहीं शीतला माता की। गंगा माता और तुलसीमाता के गीतों की भी संख्या कुछ कम नहीं है। शिव–पार्वती और राम–कृष्ण की अर्चना भी की गई है।

लोक–साहित्य में सामान्य जनता की आर्थिक परिस्थिति का भी चित्रण बड़ी सुन्दर रीति से किया गया है। झूमर के सभी गीत 'सोने की थाली में जेवना परोसलों' से प्रारम्भ होते हैं। प्रियतम के भोजन करने की थाली तो सोने की बनी ही है उसका जल–पात्र भी सुवर्णमय है। वह चन्दन की लकड़ी के बने पलंग पर सोता है जो रेशम की रस्सियों से बुना गया है। भोजन की वस्तुयें भी बड़ी सुन्दर तथा स्वादिष्ट हैं। परन्तु जहाँ धनधान्य तथा वैभव एवं ऐश्वर्य का वर्णन उपलब्ध होता है वहाँ साधारण किसान की गरीबी का वर्णन श्रोताओं के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट किये बिना नहीं रहता।

इस तरह से लोक साहित्य में जनता की धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के उभय पक्षों का रमणीय चित्रण उपलब्ध होता है। समाज में हिन्दू परिवार संयुक्त परिवार का आदर्श उदाहरण है जहाँ पिता–पुत्र, माता–पुत्री, भाई–बहन, सास–वधू, पति–पत्नी, ननद–भावज सभी आनन्द से एक साथ निवास करते हैं। पति–पत्नी के आदर्श प्रेम की झाँकी हमें लोक–गीतों में देखने को मिलती है। लोक–गीतों में आदर्श सती

स्त्रियों का जैसा चित्रण पाया जाता है वैसा संसार के अन्य साहित्य में मिलना दुर्लभ है। पति परदेश चला जाता है, बारह वर्षों के सुदीर्ध काल को वह विदेश में बिताता है। वह अपनी सती स्त्री की तनिक भी खोज नहीं करता। परन्तु इन दुःखद दिनों को बिताती हुई उसकी स्त्री, अनेक प्रलोभनों के सामने आने पर भी अपने सतीत्व की रक्षा करती है।
प्रोषित्पतिका किसी सुन्दरी स्त्री को देखकर कोई बटोही उस पर मोहित हो जाता है और उसे बहुमूल्य सोना, मोती आदि देकर उसके सतीत्व को खरीदना चाहता है। परन्तु वह सुन्दरी कहती है कि ए बटोही! तुम्हारे सोने में आग लग जाय और मोतियों में बज्र पड़े। दुनियाँ में 'सत' (सतीत्व) छोड़ने से 'पत' (प्रतिष्ठा) नहीं रहती।

''डाल भरि सोना लेहु, मोतिया से माँग भरूँ,
जाति छाड़ि मोरे संग लागहु रे की।''
आगि लागो सोनवा, बजर परे मोतिया रे,
सत छोड़े कइसे पत रहिहें नु रे की।।''[1]

भाई और बहन के विशुद्ध, सात्विक, दिव्य और अलौकिक प्रेम का जो वर्णन लोक गीतों में उपलब्ध होता है वैसे आदर्श प्रेम की प्राप्ति अन्यत्र दुर्लभ है। भाई का आगमन बहन के लिये उत्सव का अवसर होता है। कोई बहन कहती कि आज मेरा भाई आया है। अतः मेरे हृदय में अत्यन्त प्रसन्नता है। ए भाटिन, तुम गीत गावो। ऐ मेरी सास! तुम मेरे भाई के भोजन के लिये पूड़ी बनाओ। बहन का भ्रातृ–स्नेह सच्चा और सक्रिय है। भोजपुरी में एक कहावत प्रसिद्ध है कि ''भाई के चोट अवरू केहुनी के घाव न सहाला'' अर्थात् भाई और कुहनी का चोट असह्य होता है। इससे पता चलता है कि बहन के हृदय में भाई के प्रति कितनी करुणा, कितना प्रेम और कितना स्नेह है। लोक गीतों में भाई और बहन के अलौकिक प्रेम का जो चित्रण किया गया है वह अनुपम और अद्वितीय है।

लोक साहित्य में जहाँ पिता–पुत्र, माता–पुत्री, पति–पत्नी और भाई–बहन का लोकोत्तर प्रेम दिखाई पड़ता है वहाँ सास–पतोहू, ननद–भावज और विभिन्न सपत्नियों का पारस्परिक व्यवहार अत्यन्त कटु और विषमय उपलब्ध होता है। लोक–गीतों में सास सदा दरुनियाँ (दारुण) विशेष में सम्बोधित की गई है। सास अपनी पतोहू से कटु वचन बोला करती है जो विष में बुझे बाणों के समान हृदय में प्रवेश करते हैं।

सास केवल कटु वचन ही नहीं बल्कि वह पतोहू को शारीरिक कष्ट भी देती है। वह वधू से इतना अधिक घर का काम करवाती है जिसे वह करने में असमर्थ है। वह उससे बर्तन मँजवाती है और वह गहरे कुएँ से पानी भरवाती है।[2] सास अनेक छोटी–छोटी बातों को लेकर बहू के चरित्र पर सन्देह भी करने लगती है इस प्रकार वह अपने 'दारुनियाँ' विशेषण को चरितार्थ करती हुई दिखाई पड़ती है।
ननद और भावज का सम्बन्ध भी सास और पतोहू की अपेक्षा कुछ कम विषाक्त नहीं है। ननद अपनी माँ और भाई से भावज की शिकायत करती हुई पाई जाती है। वह बात–बात में भावज पर व्यंग्य बाण छोड़ती है जो मर्म को भेदने वाले हैं। ननद और भावज का यह झगड़ा कुछ नया नहीं है। यह चिरकाल से चला आ रहा है।

लोक साहित्य में साधारण जनता के सामाजिक जीवन के चित्रण के साथ ही आर्थिक पक्ष का चित्रांकन भी उपलब्ध होता है। जहाँ ग्रामीण जीवन में सुख और समृद्धि का सागर हिलोरें मार रहा है वहाँ घोर निर्धनता, हीनता और दीनता का वीभत्स कंकाल सामने दिखाई पड़ता है। जहाँ देहात की दुनिया में धन–धान्य और वैभव का साम्राज्य दिखाई पड़ता है वहाँ दुःख, गरीबी और भूख का भैरव नाद भी सुनाई पड़ता है। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि सुख–दुःख, आशा–निराशा, विलास–वैभव और दैन्य–दीनता के उभय पक्षों का वर्णन लोक–साहित्य में पाया जाता है।

भोजपुरी गरीब स्त्री विलाप करती हुई कहती है कि मेरा पति तो पूर्व देश–बंगाल–में व्यापार करने के लिए जा रहा है अब मेरे उजड़े हुए घर को कौन छवावेगा?

"पियवा जे चलेले पुरुब बनिजिरया
से केई रे छइहें ना, मोरा उजड़ल बँगलवा
से केई रे छइहें ना।"[3]

गाँवों में गरीबों के लिए न रहने को झोपड़ी है और न पहनने को वस्त्र। उपर्युक्त गीत में स्त्री ऐसी ही गरीबी की मूर्तिमयी प्रतिनिधि है। हमारे गाँवों में निवास करने वाली अगणित अभागिन स्त्रियाँ इसी प्रकार थोड़ी–थोड़ी सी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तड़प–तड़प कर मर जाती है।

ग्रामीण जीवन की सादगी और सरलता की प्रशंसा संस्कृत साहित्य में भी उपलब्ध होती है। देहाती दुनिया की सरलता पर मुग्ध होकर कोई कवि कहता है कि हे सुन्दरी! गँवई के लोग बड़े सुखी हैं। वे साठी के चावल का मीठा भात खाते हैं, सरसों का साक और मीठी सजाव दही का स्वाद लेते हैं। इस प्रकार वे थोड़े से ही व्यय में मीठा तथा स्वादिष्ट भोजन करते हैं। कवि ने ग्रामीण जीवन का वर्णन करते हुए ठीक ही कहा है कि– **"थोड़े में निर्वाह यहाँ है / ऐसी सुविधा और कहाँ है।"**

किसान का जीवन सचमुच ही सादा और सरल है तथा उसका संसार न्यूनतम आवश्यकताओं से बना हुआ है। लोक साहित्य विशेषकर लोकगीतों में सामान्य जनता की धार्मिक परिस्थिति का चित्रण उपलब्ध होता है। यद्यपि नयी सभ्यता तथा शिक्षा के चाकचिक्य के कारण प्राचीन धारणओं और विश्वासों में परिवर्तन होने लगा है परन्तु लोक–संस्कृति की सरिता आज भी अपनी अक्षुण्ण गति से प्रवाहित हो रही है। स्त्रियाँ आज भी उसी प्रकार से व्रत रखती हैं और अपनी अभीष्ट कामनाओं की सिद्धि के लिए देवताओं की पूजा करती हैं जिस प्रकार से प्राचीनकाल में की जाती थी। पुरूष वर्ग भी अपनी धार्मिक भावनाओं और विधि–विधानों को सँजोकर थाती के समान सुरक्षित रखे हुए है। लोक साहित्य में जनता के धार्मिक जीवन का सजीव चित्रण अंकित किया गया है।

लोक–गीतों में जिन प्रधान देवताओं की पूजा का उल्लेख पाया जाता है उनमें शिवजी सबसे अधिक प्रचलित हैं। भगवान शिव देवता के रूप में ही चित्रित नहीं किये गये बल्कि वे एक साधारण पति के रूप में भी दिखाई पड़ते हैं। इनकी पूजा प्रत्येक गाँव में

की जाती है। कोई भक्त स्त्री कहती है कि ए सखी! शिव के दर्शन करने के लिए चलो। कोई इनके मन्दिर में अक्षत–चन्दन चढ़ाता है और कोई लाल चुनरी चढ़ाकर अपनी अभीष्ट सिद्धि की प्रार्थना करता है।[4]

मारवाड़ में अनेक देवी–देवताओं के गीत गाये जाते हैं जिनमें हनुमान और भैरव (भैरू जी) अधिक प्रसिद्ध हैं। कोई मारवाड़ी भक्त कहता है कि बाबा बजरंग की मूर्ति बड़ी भव्य है। कमर में लाल लँगोटा और माथे पर सिन्दूर का तिलक है। बाबा बजरंग आसन लगाकर बैठे हैं। अपने ब्रह्मचर्य के प्रताप से बजरंग जी ने रावण की अशोक वाटिका को विध्वस्त कर डाला और राजा रामचन्द्र जी के कार्य को सिद्ध किया। माता अंजनी की कोख धन्य है जिसने हनुमान् जैसे पराक्रमी पुत्र को जन्म दिया।

''लाल लँगोटो तिलक सिन्दूर को / बैठ बजरंग आसण ढाल।
बाग बिधूस्या, लंका दलमली/ सार्‌या राजा रामचन्द्र का काम।
धन माता अंजनी की कूख/ अण जायो हणवंत पूत।[5]

लोक–कथाओं में देवी–देवताओं की पूजा का वर्णन बहुधा हुआ है। इन कथाओं में पुत्र की प्राप्ति, धन के लाभ तथा बच्चे की नीरोगकामना के निमित्त दुर्गा माता, हनुमान् (महावीर) और सत्यनारायण बाबा की अनेक मनौतियाँ मनाई जाती है। भूत–दूत की पूजा का उल्लेख भी स्थान–स्थान पर किया गया है। ग्रामीण जनता का जीवन धर्म से ओत–प्रोत है जिसका दर्शन लोक–गीत और कथाओं में सर्वत्र पाया जाता है।

इस प्रकार लोक–साहित्य में सर्वभूतहिताय और सर्वजनसुखाय की भावना प्रचुर परिमाण में पाई जाती है। गाँवों में परोपकार के लिए कुआँ खोदवाने, तालाब और बाग लगवाने की प्रथा चिरकाल से चली आ रही है। ऐसा कार्य जिससे दूसरे मनुष्यों को सुख मिले ग्रामीण लोगों को अधिक प्रिय होता है। लोक साहित्य में ग्रामीण संस्कृति का भी सुन्दर चित्रण किया गया है। हमारी ग्राम–संस्कृति इन्हीं आदर्शों के सहारे सहस्त्रों वर्षों से अक्षुण्ण रीति से चली आ रही है। लोक साहित्य में सर्वजनसुखाय की भावना व्याप्त है जो हमारे हृदय में **'सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः'** की उदात्त भावना को जागरित करती है। लोक गीतों में अन्तर्निर्दिष्ट मंगल की यह प्रवृत्ति संसार के कल्याण की आधार–शिला है।

<u>संदर्भ ग्रन्थ सूची</u> –

1. लोक साहित्य की भूमिका–डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय, पृ0 242
2. भोजपुरी लोक–गीतों में करूण रस–दुर्गाशंकर सिंह, पृ0 445
3. भोजपुरी लोक गीत–डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय, भाग 1, पृ0 364
4. वही, पृ0 368
5. राजस्थानी लोक गीत–सूर्यकरण पारीक, भाग 1 (पूर्वार्द्ध) पृ0 12–13

विवादों का पुरूषः राजेन्द्र यादव

अमित कुमार तिवारी

शोध–छात्र
काशी हिन्दू वि0वि0 वाराणसी
E Mail - amitbhucrick@gmail.com

हिन्दी गद्य साहित्य के इतिहास में राजेन्द्र यादव वैसे तो कहानी उपन्यास के लिए जाने जाते हैं। परन्तु उनका सम्पादकीय लेखन भी उनको समझने और जानने के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान करता है। हंस पत्रिका का सम्पादन राजेन्द्र यादव ने लगभग सत्ताईस वर्षों तक किया। उनका सम्पादन हंस पत्रिका को फिर से अपना एक मुकाम दिया जिसके लिए हिन्दी समाज उनका ऋणी है। पाठकों को हंस पत्रिका के साथ जोड़ने वाला कॉलम 'अपना मोर्चा' और लेखको को जोड़ने वाला कॉलम 'परख' तो अपनी अनिवार्यता के चलते बरकरार हैं ही साथ–साथ उनका सम्पादकीय लेख अपनी बेबाकी के लिए सदैव याद किया जायेगा।

"नरक की अतल गहराइयों में साँस लेने वाले ही परम निष्पाप और निश्छल स्वरों में गा पाते हैं, उन्हीं के तो गीत होते है जिन्हें हम ऋषियों और देवताओं की वाणी के रूप में याद करते हैं।" काफ्का के एक अप्रकाशित पत्र की ये पंक्तियाँ एरिख हैलर के अनुसार नीत्शे की ही अनुगूँज है जिस किसी ने भी नए स्वर्ग की रचना की है उसने शक्ति और प्रेरणा अपने भीतर के नरक से ही पाई है और इसी की प्रतिच्छाया राजेन्द्र यादव में इस प्रकार से देखी जा सकती है। जीवन के तथ्य को कोई लेखक अपनी रचना में लाकर महानता की श्रेणी को हासिल कर सकता है। तात्पर्य कि त्याज्य विषय से भी कुछ उदात एवं प्रेरक विषय का सम्बन्ध हो सकता है। यहॉ पर शायद राजेन्द्र यादव अपने अन्तिम से अन्तिम क्षणों में कुछ अन्तिम बचे होने की बात करते है। अतः किसी का सम्पूर्ण आकलन नहीं किया जा सकता। यह उनकी आशावादिता को स्पष्ट करता है।

राजेन्द्र यादव अपने कुख्यात स्पष्टवादिता के लिए भी विख्यात हैं उन्होंने कई नए मुहावरे भी दिए है। उदाहरण के लिए धर्मस्थलों को मानसिक सुलभ शौचालय और प्राध्यापकों को ज्ञान का कब्रिस्तान कहना उन्हीं के बस की बात थी। तमाम झंझावातों के बावजूद मार्क्सवाद में उनका अडिग विश्वास था। जो आस्था की हद तक जाता था। फिर भी मार्क्सवाद की कट्टरता को उन्होंने जरा भी नही बक्सा CPI (M) के नेता टी पी चन्द्रशेखरन की हत्या पर उनकी कही उनके दो टूक बातें मुझे याद है– अपने ही पथभ्रष्ट कामरेड की हत्या शायद किसी भी कम्युनिस्ट पार्टी के लिए नई बात नहीं है। इतना ही नहीं वे हनुमान को आतंकवादी और राम को भगोड़ा पात्र कहते हैं और उसी से सन्दर्भित सीता पर एक कहानी लिख डाली। हिन्दी साहित्य में राजेन्द्र यादव ही ऐसा सोच एवं लिख सकते है।

राजेन्द्र यादव लाइम लाइट में रहना पसन्द करते है। वह भी अपनी बेबाक टिप्पणियों द्वारा राजेन्द्र यादव जी की दोस्ती एवं दुश्मनी बिल्कुल स्पष्ट थी। पैर की असमर्थता के बावजूद राजेन्द्र जी बौद्धिक धरातल पर बेहद समर्थ और सशक्त थे। दोस्ती और दुश्मनी दोनो में उनकी लोकतांत्रिकता स्पष्ट दिखाई देती है। यथार्थवादी इतने कि अपने आत्मकथा में स्वयं लिख गये – "न मृत्यु कभी दूर–दूर तक चिन्ता का विषय रही न डर का हिस्सा डर सिर्फ एक रहा–दीन और–और दयनीय बन जाने का".....मौत तो जिस दिन होगी वह हो जायेगी अपने आप या दूसरों के हाथों अफसोस सिर्फ यही है कि बहुत कुछ अधूरा और बिखरा छूट जायेगा कौन सँभालेगा यह सब ?

राजेन्द्र जी नई कहानी की अपनी सीमित सोंच के कारण वे किसी भी जन आन्दोलन में खुलकर भाग न ले पाऐ पर बाद में बौद्धिक रूप में हर प्रगतिशील जनधर्मी क्रान्तिकारी आन्दोलन के समर्थक रहे और हर प्रतिवामी मौलवादी शक्ति के विरोधी। राजेन्द्र जी को जातिवाद और मनुवाद से शत्रुता की हद तक चिढ़ थी। ये पूर्वाग्रही पक्षपाती शक्तियाँ जब उनके या किसी के कृतित्त्व को यह कहकर कमतर करने की कोशिश करती कि यादव या पिछड़ी जाति का होने के बावजूद उन्होंने यह उपलब्धि अर्जित की राजेन्द्र यादव जी हंस का प्रकाशन और संपादन आरंभ करने के बाद पूरी तरह हंसमय हो गये थे। उन्होंने उसे अपने जीवन का मिशन बना लिया एक ऐसा माध्यम जिसके द्वारा उन्होंने तरह–तरह की योजनाओं को कार्यान्वित किया। किसी साहित्यिक पत्रिका का ऐसा जनतांत्रिक उपयोग शायद ही किसी दूसरे सम्पादक ने किया हो। राजेन्द्र यादव के व्यक्तित्त्व को कथाकार से कहीं ज्यादा हंस सम्पादक के रूप में याद किया जायेगा। लगभग तीस वर्ष तक उन्होंने नियमित रूप से इस साहित्यिक पत्रिका का सम्पादन किया वह साहित्यिक पत्रिका के इतिहास में एक मिसाल है।

सम्पादन के साथ उनके पास कथा विवेचन का भी अद्‌भुत विवेक था। जब उन्होंने अक्षर प्रकाशन की शुरूआत की तो न केवल महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का चयन करने के कौशल का प्रमाण प्रस्तुत किया स्वयं भी 'एक दुनियाँ समान्तर' शीर्षक से नई कहानियों का एक संकलन तैयार किया। यह संकलन जितना चयन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है उतना ही अपनी लंबी भूमिका के लिए। राजेन्द्र यादव उन औसत औरतों एवं युवतियों के आवाज थे जिनके पास अनुभव था अभिव्यक्ति नही थी। उनके पास संवेग, संवेदना और साहस भी नहीं था। राजेन्द्र यादव ने उन गूँगी स्त्रियों को नया साहस दिया। अनेक फालतू फिसड्डी लेखिकाओं के उत्थान में वे इस प्रकार लगे रहते भले ही इसमें उनकी प्रतिभा का पतन हो जाए। इतना परिश्रम यदि वे अपने मौलिक लेखन पर करते तो राकेश और कमलेश्वर से भी ज्यादा उर्जावान रचनाकार माने जाते पर उन्होंने अपनी शक्तियों का क्षय हो जाने दिया।

राजेन्द्र जी को पारिभाषिक अर्थ में विचारक कहना पूरी तरह गलत होगा। उनकी वैचारिकता मार्क्सवाद अस्तित्त्वाद वगैरह को घोंट पीसकर तैयार किया गया एक कामचलाउ आसव थी। विचार उनके लिए सचेत बुद्धि का उपक्रम नहीं था। वे कलाकार थे जो चिंन्ता को अवचेतन के बोध के रूप में ग्रहण करते थे। उनकी जवानी के दिनों में पश्चिमी दुनियाँ में जो विचार और अवधारणाएँ प्रचलित थी उन सबका थोड़ा–थोड़ा रस उन्होंने ग्रहण किया। सारे

बड़े अस्तित्त्ववादी लेखक राजेन्द्र जी के प्रिय थे। पर उनकी सख्सियत पर मृत्युबोध या व्यर्थता बोध को किसी भी तरह फिट नहीं किया जा सकता। यहाँ तक कि कट्टर भगवान विरोधी होने के बावजूद सार्त्र की तरह ईश्वर की मृत्यु की लेकर आश्वस्त होना उनके लिए जरूरी नहीं था। और इस मसले को स्थगित रखकर ही वे काम चलाते रहे। हिन्दी के आधुनिक लेखकों में राजेन्द्र यादव ही वह लेखक थे जिन्होंने दूसरों के लिए अपनी तिलांजलि देने में कोई आनाकानी नहीं की। उनकी मानसिकता पूरब और पश्चिम के मेल से बनी। पश्चिमी लेखकों को उन्होंने कुछ ज्यादा पढ़ा और पूरब में समय के पहले वह पैदा हो गये। शायद इसी कारण प्रखर बौद्धिकता और तेजस्विता के बावजूद उनका इस समाज और परिवार से सहज तादात्म्य नहीं बन पाया यदि वह लगतार 27 वर्षों तक हंस निकालकर अपने संपादकीय से सांम्प्रदायिकता फासिस्ट ताकतों से जुझते हुए स्त्री और दलित विमर्श को प्राथमिकता दे रहे थे तो इसका बड़ा सार्थक मतलब है। 28 अगस्त 1929 में बागरा में जन्मा यह फकीर साहित्य का मस्तमौला था। इसने कभी किसी की परवाह नहीं की और अपनी शर्तों पर जिंदगी को 84 वर्षो तक निचोड़ कर जिया।

राजेन्द्र यादव के सौन्दर्यशास्त्र पर अलग से विचार करने की आवश्यकता है। उनकी दिलचस्पी दुनिया के सबसे बड़े अपराधियों के लेखन में रही चाहे वह लिलियन राय की पुस्तक 'आइ विल क्राई टुमारो' या चार्ल्स शोभराज, फूलन देवी, या हर्षद मेहता अन्यथा वो इम्पोस्टर वाली कथा न गढ़ते। राजेन्द्र यादव जटिल ही नहीं ग्रन्थिल व्यक्तित्त्व के थे। जिसे समाजशास्त्र के प्रचलित पैमानों से समझपा कठिन था। वस्तुतः राजेन्द्र यादव जिस धातु से बने थे उसमें सबसे प्रमुख तत्त्व था स्वयं धातु। सच पूछिए तो वे किसी के भी नहीं थे खुद अपने भी नहीं। बेशक इस चेहरे में गहरा रंग है फिर भी कहीं यह खाँटी हिन्दुस्तानी है।

राजेन्द्र जी के आलोचक भी है प्रशंसक भी और उनके प्यार भी करने वाले लोग है। परन्तु उनका सही एवं सटीक दृष्टिकोण से विश्लेषण करने वाले लोग कम है। राजेन्द्र यादव का स्वयं कही इतना ज्यादा वर्चस्वशली हो जाता है कि विमर्श दिग्भ्रमित होने लगता है। परन्तु जहाँ उनका स्वयं सन्तुलित है वहाँ उनका लेखन एकदम सधा हुआ हो जाता है। नए रचनाकारों को आगे लाने के लिए उन्होंने जो प्रयास किया उसमें महिला के लिए वह अविस्मरणीय रहेगा।

<u>संदर्भ ग्रन्थ सूची</u> –

1. हंस – दिसम्बर 2013
2. आजकल – दिसम्बर 2013
3. नया ज्ञानोदय – दिसम्बर 2013
4. दूरदर्शन की पत्रिका दृश्यातर अक्टूबर
5. पाखी – दिसम्बर 2013

वाल्मीकि रामायण में नीतितत्त्व–एक विमर्श

प्रभात कुमार

शोधच्छात्र
संस्कृत विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
Email : prabhatkjrf@gmail.com

नीति शब्द 'नी'[1] धातु से ''स्त्रियां क्तिन्''[2] सूत्र से भावार्थक क्तिन् प्रत्यय के योग से निष्पन्न है। 'नी' धातु ले जाने या ले चलने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अमरकोष के अनुसार नीति समानार्थक एक 'नय' शब्द भी है, जो 'नी' धातु में अच् प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। 'नी' धातु में अच् प्रत्यय लगने पर नी के ई को गुण ए तथा ए को अय् आदेश होता है। इस प्रकार न् + अय् + अच् = नय शब्द बनता है। इससे स्पष्ट है कि नीति एवं नय दोनों ही शब्द नी धातु से निष्पन्न है। नीति शब्द के अर्थ वामन शिवराम आप्टे कृत संस्कृत हिन्दी कोष में[3] निर्देशन, मार्गदर्शन, पद्धति, रीति, औचित्य आदि दिये गये हैं। लगभग इन्हीं अर्थों[4] का बोधक 'नय' शब्द भी है। विभिन्न कोषों के अनुसार नीति शब्द के अर्थ नीति, रीति, पद्धति, व्यवस्था, औचित्य आदि ही है।

भारतीय साहित्य में नीति का प्रयोग अत्यन्त प्राचीनकाल से होता चला आ रहा है और समय–समय पर नीति सम्बन्धी अनेक सूक्ति वाक्यों का प्रयोग महापुरुष करते रहे हैं। ये नीति सम्बन्धी वाक्य हर युग में भारतीय काव्य का गौरव वर्धन करते रहे हैं, क्योंकि नीति के प्रयोग से काव्य अधिक मानव हित साधन में समर्थ हो जाता है। वस्तुतः नीति एक ऐसा जीवन मार्ग है जो मानव के हर क्षेत्र के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। यदि यह कहा जाय कि मानव जीवन का पूर्ण विकास किसी न किसी नीति का ही सुपरिणाम है, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। नीति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए विभिन्न विद्वानों ने अपने मत प्रस्तुत किये हैं। इस प्रसंग में **डॉ0 सुखदेव शुक्ल** के विचार दर्शनीय हैं–

''प्रत्येक समाज अपने अन्दर शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए एक विशिष्ट प्रकार की आचार पद्धति निर्धारित करता है। इस आचार पद्धति का लक्ष्य यही होता है कि समाज के सामूहिक जीवन को समृद्ध और सुखी बनायें। समूचे समाज द्वारा स्वीकृत यह विशिष्ट आचार धीरे–धीरे एक सुस्पष्ट एक सुनिश्चित व्यवस्था का रूप धारण कर लेता है और समाज के अन्दर रहने वाले सभी व्यक्तियों के आचरण का निर्देशन व नियन्त्रण करने लगती है। यहाँ आकर इस सुनिश्चित एवं व्यवस्थित आधार– पद्धति को नैतिकता की संज्ञा दी जाती है और सामाजिक जीवन में व्यवस्था और शान्ति बनाये रखने वाला आचरण नैतिक कहलाने लगता है। इस प्रकार नैतिकता से अभिप्राय व्यक्ति के आचरण का निर्देशन करने वाली एक

विशिष्ट नियम व्यवस्था एवं आचार पद्धति से है जिसे समाज अपने सदस्यों के लिए रचता है''[5] नीति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए **''हिन्दी साहित्य कोष''** में कहा गया है–

''समाज को स्वस्थ एवं संतुलित पथ पर अग्रसर करने एवं व्यक्ति को धर्मार्थ, काम तथा मोक्ष की उचित रीति से प्राप्ति के लिए जिस विधि निषेधमूलक सामाजिक, व्यावहारिक, आचारिक, धार्मिक तथा राजनैतिक आदि नियमों का विधान देशकाल और पात्र के सन्दर्भ में किया जाता है उसे नीति शब्द से अभिहित करते हैं।''[6] इस प्रसंग में **महात्मा गाँधी** के विचार भी विशेष महत्त्व रखते हैं। वे धर्म और नीति को एक मानते हुए लिखते है कि– **''धर्म ही नीति है और नीति को धर्म के अनुसार होना चाहिए।''**[7] डॉ दीनदयाल गुप्त नीति के प्रचलित अर्थ की ओर संकेत करते हुए लिखते है– मनुष्य का वह ज्ञान और अनुभूति का भण्डार जो मानव के व्यावहारिक जीवन को सुखमय और उन्नत बनाने में सहायक होता है, नीति साहित्य है। मनुष्य क्या करता है, इस को छोड़कर मनुष्य को क्या करना चाहिए, नीति है।[8]

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि नीति मानव जीवन को सरल, सुखद मार्ग से ले चलने का ही नाम है। मानव मात्र का लक्ष्य दुःख से निवृत्ति और सुख की प्राप्ति है। इसी के लिए मानव जाति प्राचीन काल से निरन्तर प्रयास करती चली आ रही है। मानव को अपने जीवन पथ से चलते समय अनेक बाधाओं एवं व्यवधानों का सामना करना पड़ता है। वस्तुतः इन समस्त जीवन क्षेत्रों को सरलता से पार करके पूर्व सन्तोष एवं सुख की उपलब्धि में ही मानव जीवन की सफलता का रहस्य निगूहित है। इस सफलता की प्राप्ति में सहायक मार्ग ही नीति है। वस्तुतः नीति शब्द का सही अर्थ– ''नीयते अनेन इति नीतिः''। क्योंकि जिस मार्ग पर चलकर मानव अपना सर्वांगींण विकास करता हुआ अन्य के विकास में भी सहयोग प्रदान करें वही, मार्ग नीति है। यो तो मनीषियों ने मानव जीवन का लक्ष्य स्पष्ट करते हुए लिखा है–

''धर्मार्थकाम मोक्षामां यस्यै कोऽपिन् विद्यते, अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम्।।''

अर्थात् जिसने धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष में से किसी एक की भी उपलब्धि नहीं की, तो उसका जन्म बकरी के गले के समान व्यर्थ ही है। कहने का तात्पर्य है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की उपलब्धि कराने वाला जीवन पथ ही नीति है। निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि मानव–जीवन की सफलता के लिए कुछ नियमों की, कुछ आदर्शों की आवश्यकता तो अवश्य होती है। ऐसे नियम, संयम एवं आदर्शों से युक्त जीवन पद्धति को ही नीति की संज्ञा दी जा सकती है जिसका अनुकरण करते हुए मानव बहुमुखी विकास की ओर उन्मुख होता हुआ अपने जीवन की सार्थकता सिद्ध कर सकें।

नीति का वर्गीकरण– देशकाल एवं परिस्थिति के अनुसार नीति के भेदों की संख्या अधिक हो सकती है। परन्तु भेद–प्रभेदों को विस्तार न देकर उनकी संख्या को सीमित करना ही अधिक समीचीन होगा। मुख्य रूप से नीति के चार प्रकार ही बताये गये है–

(1) लोकनीति (2) राजनीति (3) आर्थिकनीति (4) धार्मिकनीति।

(1) लोकनीति– लोकनीति के अन्तर्गत वैयक्तिक नीति, पारिवारिक नीति एवं सामाजिक नीति को लिया जा सकता है। जैसे– व्यक्ति के कुछ कार्यों का सम्बन्ध स्वयं अपने से ही होता है। उसके वे समस्त कार्य इसी नीति के अन्तर्गत आते हैं। जो व्यक्ति व्यक्तिगत रूप से

अपने को स्वस्थ नहीं रख सकता वह न अपना हित कर सकता है और न किसी अन्य का। अतः शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से अपने को स्वस्थ रखना और फिर अपने परिवार एवं समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का निर्वाह करना लोकनीति का ही विषय है। व्यक्ति के परिवार में माता–पिता, भ्राता, भगिनी, पुत्र, पुत्री आदि अनेक सदस्य होते हैं। समुचित शिक्षा का लाभ उठाते हुए इन सबके प्रति वह समन्वयात्मक व्यवहार करें तभी परिवार का कल्याण हो सकता है। परिवार के बाहर मानव को समाज के अन्य व्यक्तियों से भी सम्पर्क रखना पड़ता है। उन सबके प्रति भी इसके कर्त्तव्य हैं, किन परिस्थितियों में किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए? यह लोकनीति का विषय है। हमारा जीवन ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास चार आश्रमों में विभक्त है। इन आश्रमों की सफलता का रहस्य क्या है? वर्ण व्यवस्था के अनुसार हमारे क्या कर्त्तव्य है? इन सबको उत्तर लोकनीति देती हैं। वस्तुतः लोकनीति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। व्यक्ति की शिक्षा–दीक्षा परिवार एवं समाज में अन्य लोगों के साथ उसका व्यवहार, अन्य की हानि न करते हुए अपना लाभ, व्यष्टि के साथ समष्टि के विकास का चिन्तन आदि विषय इसी नीति के अन्तर्गत लिये जा सकते है। इसलिए भगवान् श्रीराम राजा होकर भी दूसरा विवाह नहीं करते है और सीता जी की स्वर्णमयी प्रतिमा तैयार करते है–

कांचनी मय पत्नीं च दीक्षायां नाश्च कर्मणि। अग्रतो भरतः कृत्वा गच्छत्वग्र महायशाः।।[9]

लोकनीति में व्यक्ति के वे समस्त क्रिया कलाप आ सकते हैं जिनसे उसका, उसके परिवार का एवं उसके समाज का सम्बन्ध हो। वस्तुतः मानव का मानव के साथ व्यवहार एक दूसरे के प्रति सहानुभूति के भाव, परस्पर त्याग, प्रेम आदि इसी नीति के अन्तर्गत आती है।

(2) राजनीति– किसी भी समाज में अनुशासन स्थापित करने के लिए राज्य की आवश्यकता होती है। उस राज्य का एक प्रमुख शासक और अनेक सहायक होते हैं। वे सब मिलकर जिस ढंग से समस्त राज्य का संचालन करते है उसी को राजनीति कहा जा सकता है। राजनीति शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है– राज+नीति। जिसका अर्थ है राजा की नीति अथवा राज्य की नीति। इस प्रकार राजनीति से तात्पर्य– उस नीति से है जिस नीति के आधार पर कोई राजा अपना राज्य संचालन करता है।

मनु, शुक्राचार्य, चाणक्य आदि नीतिज्ञ विद्वानों ने बड़े विस्तार से राजनीति का वर्णन किया है। प्राचीन काल में राजा की आज्ञा सर्वोपरि मानी जाती थी। वह अपनी सहायता के लिए अन्य योग्य मन्त्रियों की नियुक्ति भी करता था। यह राजा और उसके द्वारा नियुक्त मन्त्रीगण ही अन्य अधिकारियों की सहायता से समस्त राज्य में व्यवस्था बनाये रखते थे। परन्तु आज के युग में राजतन्त्र की प्रथा समाप्त हो चुकी है और सर्वत्र ही प्रजातन्त्र शासन है जहाँ शासन पर किसी एक व्यक्ति का पूर्णाधिकार नहीं होता अपितु प्रजा के अनेक प्रतिनिधि मिलकर ही राज्य की सुरक्षा का भार ग्रहण करते है। ऐसे युग में राजनीति की आवश्यकता और बढ़ जाती है। एक राज्य का दूसरे राज्य के साथ कैसा व्यवहार होना चाहिए? इसका ज्ञान राजनीति के बिना कैसे हो सकती है? प्रतिद्वन्द्विता के इस युग में किसी उचित राजनीति का अवलम्बन ग्रहण किये बिना कोई राज्य अधिक स्थाई नहीं हो सकता। **वाल्मीकि रामायण** के

अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि नये राजा की नियुक्ति में सामन्तों की भी सहमती ली जाती थी– **नानानगरवास्तव्यान् पृथग्जानपदानपि। समानिनाय मेदिन्यां प्रधानान् पृथिवीपतीः।।**[10]

राजनीति शासन की धुरी ग्रहण करने वाले व्यक्तियों को सही दिशा– निर्देश करती हुयी प्रजाहित के ध्यान के लिए नियम एवं विधानों की व्यवस्था करना उसका प्रमुख कार्य होता था। निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि प्रजा के कल्याण के लिए जो शासन एक पद्धति विशेष को स्वीकार करता है, वही राजनीति है।

(3) आर्थिक नीति– राजनीति के समान मानव जीवन में आर्थिक नीति का भी बहुत महत्त्व है। जीवन निर्वाह के लिए धन एक अनिवार्य साधन है। अर्थ के बिना मानव अपने जीवन में सफल नहीं हो सकता। अतः धनार्जन के उपाय, जीवन में उसका सदुपयोग, आर्थिक नीति के विषय है। इस आर्थिक नीति का सम्बन्ध व्यक्ति, परिवार व समाज एवं राज्य सबसे ही होता है। अर्थ के बिना कोई भी राज्य अपनी प्रजा के विकास में सफल नहीं हो सकता। हमारे शास्त्रों में भी अर्थ को प्रमुख स्थान दिया गया है। धनार्जन के समय औचित्य एवं अनौचित्य का ध्यान रखना एवं उसके व्यय और वितरण के समय भी औचित्य को न भूलना आर्थिक नीति का ही विषय है। अर्थ के अभाव में व्यक्ति उन्नति कर ही नहीं सकता परन्तु अतिरेक से भी अनेक दोषों का केन्द्र बन जाता है। जीवन में अर्थ के सन्तुलन की भी परम आवश्यकता है। इसका बोध अर्थनीति ही कराती है। हमारे शास्त्रों में अर्थ को दूसरे सोपान पर रखा गया है। वाल्मीकि रामायण भी अर्थ संगह का पूर्ण समर्थन किया है।

धर्मार्थ काममोक्षषु यसयैकोऽपि न विद्यते। अजामलसतनस्तेव तस्य जन्म निरर्थकम्।।[11]

कोशसंग्रहणे युक्ता बलस्य च परिग्रहे। अहितं चापि पुरुषं हिंस्युरविदूषकत्।।[12]

इससे यह ध्वनित होता है कि राजा का ध्यान धन–संग्रह की ओर था और इस विषय में वह असावधान नहीं था। इस प्रकार महर्षि वाल्मीकि ने अर्थ–संग्रह के सत्साधनों का अनेकशः उल्लेख किया है।

(4) धार्मिक नीति– धार्मिक महात्माओं ने मानव कल्याण के लिए ही समाज को धर्म की व्यवस्था दी है। वस्तुतः धर्म स्वतः ही एक नीति विशेष का प्रतीक है। परन्तु उसका सम्बन्ध व्यवहार की अपेक्षा उस भावना से अधिक है जिसके द्वारा मानव स्वार्थ की संकीर्ण परिधि से ऊपर उठकर मानव के हित को अपना लक्ष्य बनाकर परम तत्त्व के साथ एकाकार हो जाता है। इस भावना के जागृत होते ही मनुष्य में प्रेम, दया, करुणा, त्याग, असत्य, अन्याय, घृणा, विद्वेष की आसुरी वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। इस प्रकार धर्म मानव को मानव मात्र के कल्याण के लिए प्रेरित करती है। धार्मिक नीति से तात्पर्य ऐसी ही धार्मिक भावनाओं से है जो मानव हृदय में सात्विक वृत्तियों को जागृत कर उसे मानव हित साधन के लिए प्रेरित करती है। उसे कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य का सही ज्ञान कराती है। यह धार्मिक नीति ही व्यक्ति के हृदय को निष्कलुष एवं पवित्र करती है, जिससे वह स्वार्थपूर्ण संघर्ष का त्याग कर प्राणीमात्र को अपना ही स्वरूप समझता हुआ सबके हित चिन्तन में लग जाता है। यह धार्मिक नीति ही मानव को दीनों की सेवा, प्राणी मात्र से प्रेम, सबके साथ समान व्यवहार आदि सद्गुणों की ओर प्रेरित करती है। अतः मानव कल्याण के लिए यह एक अनिवार्य साधन है। धर्म की महत्ता पर प्रकाश

डालते हुए **राक्षस कुम्भक** ने भी कहा था कि धर्म, अर्थ और काम इन तीनों में 'धर्म' श्रेष्ठ है। अतः विशेष अवसरों पर अर्थ और काम की उपेक्षा करके भी धर्म का सेवन करना चाहिए–

त्रिषु चैतेषु यच्छेष्ठं श्रुत्वातन्नाबुध्यते। राजा वा राजमात्रो वा व्यथ्र तस्य बहुश्रुतम्।।[13]

कुम्भक का यह कथन यह सिद्ध करता है कि घोर अनर्थकारी राक्षस भी धर्म की महत्ता से अपरिचित नहीं थे। इस प्रकार राक्षसों को भी धर्म से परिचित प्रदर्शित करते हुए महर्षि वाल्मीकि ने धर्म की महत्ता को उद्घोष किया है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि नीति शब्द 'नी' धातु से क्तिन् प्रत्यय के संयोग से सम्पन्न है जिसका अर्थ है– ऐसा मार्ग, रीति या प्रणाली जिसके आश्रय से मानव अपना और अपने समाज का बहुमुखी विकास करने में समर्थ हो सके। मानव जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार नीति के भी अनेक प्रकार हो सकते है, परन्तु इस समस्त नीति भेदों का समावेश केवल चार प्रकार की नीतियों में किया जा सकता है– वे चार प्रकार की नीतियाँ– लोकनीति, राजनीति, आर्थिक नीति एवं धार्मिक नीति। लोक नीति में मानव के व्यक्तिगत हित का ध्यान रखते हुए मानव, परिवार समाज एवं विश्व का हित साधन करने में किस प्रकार समर्थ हो सकता है। उसका अपने परिवार के सदस्यों के साथ कैसा व्यवहार होना चाहिए? समाज में सबके साथ वह वैसा व्यवहार करें आदि बातें लोकनीति के अन्तर्गत आती है। राजनीति में राज्य की व्यवस्था एवं संचालन के ढंग को लिया जा सकता है। आर्थिक नीति में धनार्जन उसका संग्रह एवं उसके सदुपयोग को लिया जा सकता है। धनार्जन से सत्साधन और मानव धर्म को लिया जा सकता है। मानव धर्म का उद्देश्य मनुष्य मात्र का मार्ग निर्देशन करते हुए उसका कल्याण करना है और नीति का भी यही उद्देश्य है। इस प्रकार उपर्युक्त चार प्रकार की नीतियाँ समस्त मानव जीवन को समेटे हुए हैं और इन चार नीतियों के ज्ञान एवं परिपालन से मानव अपने और पर के हित साधन में समर्थ हो सकता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची –

1. भट्टोजिदीक्षित, सिद्धान्त कौमुदी, णीअ् प्रापणे।
2. पाणिनि अष्टाध्यायी, 3.3.94 भावे स्त्रियां क्तिन्।
3. वामन शिवराम आप्टे, पृ0 555
4. वहीं, पृ0 511
5. हिन्दी उपन्यास का विकास और नैतिकता– डॉ0 सुखदेव शुक्ल, पृ0 31
6. हिन्दी साहित्य कोष, सम्पादक डा0 धीरेन्द्र वर्मा, पृ0 20
7. गाँधी साहित्य, धर्मनीति, पृ0 3 व 4
8. श्री चन्द्रभान गुप्त, अभिनन्दनग्रन्थ, हिन्दी साहित्य के मध्य युग का नीति और विवेक परक काव्य– डॉ0 दीन दयाल गुप्त, पृ0 320
9. वाल्मीकि रामायण, उत्तर काण्ड, 91/25
10. वाल्मीकि रामायण– अयोध्या काण्ड, 1/46
11. चाणक्य नीति दर्पण–13वाँ अध्याय श्लोक 10
12. वाल्मीकि रामायण–बालकाण्ड–7/11
13. वाल्मीकि रामायण– युद्धकाण्ड–63/10

महाभारत का महाकाव्यत्व– एक विमर्श

संदीप कुमार यादव

शोधच्छात्र
संस्कृत विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
Email: sandeepdphil@gmail.com

भारतीय मनीषा और आर्ष परम्परा के प्रथित प्राचीन प्रतिनिधि महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास द्वारा प्रणीत– महाभारत एक अनुपम एवं उपादेय ग्रन्थ रत्न है– **''यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्''**। इस उद्घोषणा से अन्य काव्य ग्रन्थों का उपहास करने वाला महाभारत के महाकाव्यत्व पर प्रश्नचिन्ह है। यह सत्य है कि महाभारत एक शतसाहस्त्री संहिता के रूप में काव्य नहीं हो सकता तथापि सम्बद्ध तथा असम्बद्ध विस्तृत प्रक्षेपों से रहित महाभारत के मुख्य कथानक में ऐतिहासिक विवरणों के अतिरिक्त काव्यात्मक प्रवाह भी है। इस प्रकार विविध विषयक प्रक्षिप्त अंशों से रहित महाभारत में काव्यत्व भी सम्भव है तात्पर्य यह है कि महाभारत की महाकाव्य रूप में संकल्पना करना ठीक नहीं है। यह कहना असम्भव सा है।

संस्कृत काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा निर्दृष्ट महाकाव्य के लक्षण को महाभारत में चरित करके उसे महाकाव्य प्रमाणित किया जाय तो यह सम्भव नहीं है, क्योंकि न तो महाभारत का आकार, स्वरूप आदि महाकाव्य के अनुरूप है और न ही उसका कथाक्रम तथा वर्णनशैली। संस्कृत के आचार्यों ने महाकाव्य का जो स्वरूप निश्चित किया है, वह अत्यन्त सीमित सीमा में है। क्योंकि उनके सम्मुख जो महाकाव्य थे, वे उस लक्षण परिधि में आ जाते थे, जबकि महाभारत अपनी विशालता एवं विस्तीर्णता के कारण लक्षण के उस संकुचित दायरे में अपने को व्याप्त नहीं कर पाता है।

संस्कृत काव्य–शास्त्रीय परम्परा के प्राचीनतम आचार्य भामह है जिन्होंने सर्वप्रथम महाकाव्य की परिभाषा सुनिश्चित की। उनके अनुसार विस्तृत कथानक वाला महान् चरित्रों पर आश्रित, नाटकीय पंचसंधियों से युक्त उत्कृष्ट तथा अलंकृत शैली में लिखा गया, जीवन के विविध रूपों तथा कार्यों का वर्णन करने वाला सर्गबद्ध तथा सुखान्त काव्य ही महाकाव्य होता है।[1] भामह द्वारा प्रतिपादित यह लक्षण महाभारत के कुछ ही अंशों पर घटित होता है। 7वीं शदी के आचार्य रूद्रट ने महाकाव्य सम्बन्धित मान्यता को अपेक्षाकृत अधिक व्यापक किया। उन्होंने संस्कृत के परवर्ती महाकाव्यों के अतिरिक्त महाभारत, रामायण तथा प्राकृत एवं पौराणिक काव्यों को भी ध्यान में रखकर महाकाव्य का लक्षण निर्धारित किया। उनके अनुसार महाकाव्य, महाप्रबन्धात्मक होता है। जिसमें नायक के अतिरिक्त प्रतिनायक तथा उसके कुल का भी वर्णन होता है।[2]

लक्षणकारों की परम्परा में दण्डी से लेकर प्रायः सभी आचार्यों ने कालिदास, माघ आदि महाकवियों के रचनाओं को आदर्श मानकर महाकाव्य के प्रारम्भ, वर्णनीय वस्तु व्यापार छन्द तथा सर्ग के सम्बन्ध में विशेष ध्यान दिया। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के मतों का समाहार करके विशेषतः आचार्य दण्डी के परिभाषा के आधार पर अपने लक्षण निर्धारित किये है। किन्तु फिर भी महर्षि व्यास प्रणीत महाभारत 'आर्षमहाकाव्य' है इस धारणा के प्रवर्तक आचार्य विश्वनाथ ही है– **''अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गाः भवन्त्याख्यानसंज्ञका''।**[3]

महाभारत को महाकाव्यत्व का प्रबल पोषक ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन हैं, जिन्होंने महाभारत को महाकाव्यात्मक शास्त्र कहा है अर्थात् मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ के प्रतिपादन की दृष्टि से महाभारत शास्त्र है किन्तु शान्त रस की मधुर अभिव्यंजना की दृष्टि से काव्य – **''महाभारतेऽपि शास्त्रकाव्य– रूपच्छायान्वयिनि वृष्णिपाण्डवविरसावसानवेमनस्यदायिनी समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजननतात्पर्यं प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य। दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया विवक्षाविषयत्वेन सूचितः।''**[4] यद्यपि आनन्दवर्धन के अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने महाभारत की काव्यता पर स्पष्ट प्रकाश नहीं डाला है, तथापि अनेक आचार्यों ने काव्यशास्त्रीय विवेचन के प्रसंग में यत्र–तत्र महाभारत के श्लोकों को उद्धृत किया है। आनन्दवर्धन तो स्पष्ट रूप से महाकाव्य को प्रबन्धकाव्य के रूप में स्वीकार करते है– **''प्रबन्धे चाप्री रस एक एवोपनबध्यमानोऽर्थविशेषलाभं छायातिशयं च पुष्णाति। कस्मिन्निवेति चेत्, यथा रामायणे यथा वा महाभारते।''**[5]

आनन्दवर्धन ने महाभारत में अप्री रस के विषय में बड़े विस्तार से वर्णन किया है और उनके स्पष्ट अवधारणा है कि महाभारत के प्रत्येक घटना या कथानक का पर्यवसान वैराग्य के रूप में होता है। अतः इसमें इसका अप्री रस शान्त ही है– **शान्तस्यैव रसस्याप्रित्वं महाभारते, मोक्षस्य च सर्वपुरुषोर्थेभ्यः प्रधान्यमित्येतत्र स्वशब्दाभिधेत्वेनानुक्रमाण्यां दर्शितम्... तदेवमनुक्रमणीनिर्दिष्टेन वाक्येन भगवद्व्यतिरेकिणः सर्वस्यान्यस्यानित्यतां प्रकाशयता मोक्षलक्षण एवैकः परः पुरुषार्थः शास्त्रनये,व काव्यनये च तृष्णाक्षयसुखपरिपोषलक्षणः शान्तो रसो महाभारतस्याप्रित्नेन विवक्षित इति सुप्रतिपादितम्।।**[6]

महाभारत के अप्री रस के अतिरिक्त भी आनन्दवर्धन महाभारत के श्लोकों को काव्यशास्त्रीय विवेचन के प्रसंग में अनेकशः उद्धृत करते है। वह अविवक्षित वाच्य (लक्षणामूलाध्वनि) के अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य नामक भेद में पदवाच्य का उदाहरण देते हुए महाभारत के उद्योग पर्व का श्लोक उद्धृत करते हैं– अविवक्षितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्ये प्रभेदे पदप्रकाशता यथा महर्षेर्व्यासस्य– **''सप्तैताः समिधः श्रियः''** पूरा श्लोक इस प्रकार है–

धृतिः शमो दमः शौचं कारुण्यं वामनिष्ठुरा। मित्राणां चानभिद्रोह सप्तैताः समिधः श्रियः।।[7]

अभिनवगुप्त भी आनन्दवर्धन के इस मत का समर्थन करते है– **महर्षेरित्यनेन तदपुसन्धत्ते यत्प्रायुक्तम् अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतीनि लक्ष्ये दृश्यत इति।**[8]

भोजराज ने भी अपने ग्रन्थ शृप्रार प्रकाश में भी यह गौणी लक्षणा के भेदौपभेद निरूपण के प्रसंग में उद्धृत किया है।[9]

आचार्य आनन्दवर्धन ने करुण रस के प्रसंग में भी महाभारत के स्त्रीपर्व के श्लोक को उद्धृत करते है– **वाक्यार्थीभूतस्यापि कस्यचित् करुणरस–विषयस्य तादृशेन शृंगार वस्तुनाभप्रिविशेषाश्रयेण संयोजनं रसपरिपोषायैव जायते। यतः प्रकृतिमधुराः पदार्थाः शोचनीयतां प्राप्ताः प्रागवस्थाभाविभिः संस्मर्यमाणैर्विलासैरधिकतरं शोकावेशमुपजनयन्ति। यथा–**

अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः। नाम्यूरूजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः।।[10]

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने भी गुणीभूतव्यप्रय के अपरांग रूप द्वितीय भेद के उदाहरण के रूप में इसी श्लोक को उद्धृत किये है।[11] आनन्दवर्धन ने तृतीय उद्योत में विवक्षितान्यपरवाच्य–अभिधामूला ध्वनि का शब्द– काक्त्युत्थ और अर्थशक्त्युत्थ भेद से जो दो प्रकार का संलक्ष्यक्रमव्यप्रय भेद वर्णित किया है वह भी उनके अनुसार इन्हीं काव्यों में व्यप्र होता है और असंलक्ष्यक्रमव्यप्रय रसादि ध्वनि का व्यंजक भी होता है। जैसे महाभारत के शान्तिपर्व का गृद्धगोमायु सम्वाद का अभिप्राय शान्त रस में ही पूर्ण स्थिर होता है। इसका समर्थन आचार्य अभिनवगुप्त भी करते हैं। काव्यप्रकाशकार भी प्रबन्ध से वस्तुव्यंजना के उदाहरण में इसे उद्धृत है।[11] भोजराज ने सरस्वतीकण्ठाभरण के प्रथम परिच्छेद में हीन उपमा में दोष नहीं अपितु गुण का प्रसंग बतलाते हुए महाभारत के द्रोणपर्व का श्लोक उद्धृत किया है। इसी श्लोक को आचार्य मम्मट ने समासगावाचकलुप्ता उपमा के उदाहरण में उद्धृत किया है–**ततः कुमुनाद्येन कामिनीगण्डपाण्डुना। नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलप्रकृता।।**[12]

इस प्रकार स्पष्ट है कि संस्कृत आचार्यों ने अनेक प्रसंगों में महाभारत के श्लोकों अथवा संवादों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। आचार्य आनन्दवर्धन ने तो महाभारत के विविध पक्षों पर विशेष ध्यान दिया है। अतः यह कहा जा सकता है कि यद्यपि महाकाव्य का कोई भी परिभाषा आद्योपान्त रूप से महाभारत पर घटित नहीं होती तथापि उसके काव्यत्व की अवहेलना नहीं की जा सकती।

संदर्भ ग्रन्थ सूची –

1. भामह काव्यालंकार–10/19–21
2. रूद्रट काव्यालंकार–16/2–19
3. साहित्यदर्पण–6/325
4. ध्वन्यालोक–4/5 वृत्ति, पृ0 345
5. ध्वन्यालोक–4/5 वृत्ति पृ0 344
6. ध्वन्यालोक–4/5 वृत्ति पृ0 346–348
7. ध्वन्यालोक–3/1 वृत्ति पृ0 155
8. ध्वन्यालोक लोचन, पृ0 286
9. शृंगारप्रकाश सप्तम प्रकाश, पृ0 230
10. ध्वन्यालोक–3/20 वृत्ति पृ0 228
11. काव्यप्रकाश पंचम उल्लास कारिका 45वीं की वृत्ति पृ0 199
12. काव्यप्रकाश दशम उल्लास कारिका 89 सूत्र 129 की वृत्ति पृ0 453

'वैदिक एकेश्वरवाद' द्वारा धार्मिक सहिष्णुता के लिए परमसत्ता के स्वरूपों का समन्वय

डॉ० सत्यप्रकाश शुक्ल
प्रवक्ता–संस्कृत
शबरी स्मारक महाविद्यालय, इलाहाबाद।
ईमेल–satyaprakashs779@gmail.com

वेद विश्व का प्राचीनतम वाङ्मय है। भारत की सनातन मान्यताओं के अनुसार वेद अपौरूषेय अथवा ईश्वर की लोक हितकारी रचना है। शास्त्रों में वेद को सभी धर्मों के मूल रूप में प्रतिपादित किया गया है– **''वेदोऽखिलो धर्ममूलम्''**। वेदों का प्रादुर्भाव कब किसके द्वारा हुआ? इस सम्बन्ध में स्मृति–वचन ही एकमात्र प्रमाण है– **अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।**[1] अर्थात् वेदवाणी अनादि, अनन्त और सनातन है और परमेश्वर ने ही उसका लोकहितार्थ निर्माण किया है। उदयनाचार्य ने सम्पूर्ण वेद को परमेश्वर का शब्दकोश माना है। उनका कथन है– **कृत्स्न एव हि वेदोऽयं परमेश्वरगोचरः।**[2]

भट्टपाद ने वेद की महत्ता को इस बात में माना है कि लोकहित का जो उपाय प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से नहीं माना जा सकता, उसका ज्ञान वेद से होता है–

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।।[3]

इस प्रकार से हम यह पूर्ण विश्वास के साथ कह सकते हैं कि वेद की शिक्षाएँ सभी के लिए हैं अर्थात् वेद की समस्त शिक्षाएँ सार्वभौम हैं। वेद किसी व्यक्ति, समाज अथवा जाति, धर्म, सम्प्रदाय की थाती नहीं है, बल्कि वेद पर सभी धर्म, जाति, समाज के लोगों का अधिकार है क्योंकि वेद में किसी व्यष्टि मात्र के कल्याण की कामना की बात नहीं की गई है वरन् समष्टि के कल्याण की अनुशंसा की गई है। अतएव वेद ही एकमात्र ऐसा वाङ्मय है जिसमें मानव मात्र को मानव बनने के लिए प्रेरित किया गया है। जैसा कि ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से कहा गया है– **तन्तु तन्वन्रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्षधिया कृतान्।**
अनुल्बणं वयत जोगुवाम् अपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्।।[4]

यहाँ पर वेद ही एकमात्र ऐसा वाङ्मय है जो तृण से लेकर परब्रह्म तक का ज्ञान कराता है। उसके ज्ञान का जो मूलभूत सारतत्त्व है वह यही है कि हे मनुष्य तू पहले स्वयं सच्चा मनुष्य बन तथा दिव्य गुणों से युक्त सन्ततियों को जन्म दे अर्थात् सुयोग्य मानव के निर्माण में सतत् प्रयत्नशील रह मनुष्य, मनुष्य तभी बन सकता है जब उसमें पशुता का प्रवेश न हो। आकृति, स्वरूप, वर्ण से कोई भी व्यक्ति मनुष्य दिखाई देता है, किन्तु उसके अन्दर भेड़िया, श्वान, कौआ, गृद्ध आदि आकर अपना स्थान जमा लेते हैं जिसके कारण वह मनुष्य, मनुष्य न होकर पशु से भी अधिक खूंखार दिखने लगता है। वेद हमें वह सब ज्ञान प्रदान करता है, जिससे व्यक्ति एक विद्वान् मानव बनता है।

आज सम्पूर्ण विश्व को वेद के ज्ञान की आवश्यकता है। क्योंकि वेद की शिक्षा समाज

को एकजुट बनाती है समाज या राष्ट्र को विखण्डित नहीं करती। वैदिक वाङ्मय के कुछ आदर्श वचन है जो बताते हैं कि वास्तव में मानव जीवन पाने का क्या कर्त्तव्य और महत्त्व है– **''सं गच्छध्वं सं वदध्वम्।**[5] अर्थात् मिलकर चलो मिलकर बोलो।
''देवानां सख्यमुप सेदिमा वयम्।''[6] अर्थात् हम विद्वानों की मैत्री करें।
''भद्रं भद्रं क्रतुमस्मासु धेहि।''[7] अर्थात् उत्तम संकल्प, ज्ञान और कर्म को धारण कराओ।
''स्वस्ति पन्थामनु चरेम।''[8] अर्थात् हम कल्याण मार्ग के पथिक हों।
''शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः।''[8] अर्थात् शुद्ध और पवित्र बनो तथा परोपकारमय जीवन वाले हो।
''उप सर्प मातरं भूमिम्।''[10] अर्थात् मातृभूमि की सेवा करो।

आज सम्पूर्ण विश्व इसी पशुता के कारण त्रस्त है। मनुष्य–मनुष्य को ही सर्वाधिक हानि पहुँचा रहा है, सभी राष्ट्र आतंकवाद, जातिवाद, क्षेत्रवाद, नस्लवाद, धर्मवाद की लड़ाई से जूझ रहे हैं। कहीं जाति के नाम पर एक–दूसरे की हत्या हो रही है, तो कहीं भाषा के नाम पर, तो कहीं धर्म के नाम पर एक–दूसरे को लोग मार–काट रहे हैं। एक–दूसरे को नीचा दिखाने की होड़ लगी हुई है। ईश्वर के नाम पर लड़ाई लड़ी जा रही है। कोई राम को गाली देता है तो कोई अल्ला को, कोई अपने धर्म को श्रेष्ठ बताता है तो कोई अपने धर्म को, इस प्रकार सर्वत्र ही आतंक व्याप्त है। आज विश्व में सबसे अधिक हत्यायें धर्म के नाम पर हो रही है। चाहे दुनिया का सबसे बड़ा आतंकी संगठन I.S.I.S. हो अथवा नाईजीरिया का आतंकी संगठन बोकोहरम, सब उस ईश्वर के लिए दूसरे के धर्म के लोगों की हत्यायें कर रहे हैं। आज हम ये सब देखते हैं तो हमारे मन–मस्तिष्क में ये विचार आता है कि क्या सब उस एक ईश्वर की संताने नहीं है। उसने ही सबको दो आँख, दो कान, दो हाँथ, दो पैर दिये, उसी ने हमें जन्म दिया व पैदा किया। फिर यहाँ पर आकर उसके लिए एक–दूसरे को रक्त–रंजित कर रहे हैं, जबकि सबका मालिक एक है और हम यहाँ आकर अनेकानेक पंथ, सम्प्रदाय और अखाड़े या विविध प्रकार के संगठन खड़े कर दिये, फिर उसमें भी कई उपपंथ या उपसम्प्रदाय हो गये– शैव, वैष्णव, शाक्त, वैदिक, बौद्ध, जैन, सिक्ख, लिंगायत, आर्य समाज इत्यादि। यहाँ पर ही नहीं समाप्त हुआ तो उस परमात्मा को ही कई रूपों में बता दिया जैसा कि कहा गया है–

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरयो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।[11]

अर्थात् सर्वप्रथम पूजनीय तेजोमय अग्नि देवता को ही इन्द्र, मित्र, वरुण कहा जाता है। वहीं 'दिव्य, सुपर्ण और गरुत्मान है। वह एक है, किन्तु विद्वान् लोग बहुत से नामों से सम्बोधित करते हैं। उसी को अग्नि, यम और मातरिश्वा कहा जाता है।

अब एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि वह परमात्मा एक है और उसे हम अनेक नाम और स्वरूप दे दिये, जिससे वह ब्रह्मा, विष्णु, शिव, राम, कृष्ण, गणेश, हनुमान, सूर्य, दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, काली, अम्बा के नामों से जानते हैं। जबकि यह उसी एक आदि परमात्मा के नाम हैं। सगुण उपासक उसको साकार परमात्मा के रूप में मानने लगे और निर्गुण उपासक उसे निराकार रूप में और कुछ इन दोनों से परे महाशून्य। जबकि परमात्मा का दिव्य स्वरूप कैसा है उसे ऋग्वेद के दशम मण्डल के नब्बेवें सूक्त के प्रथम मन्त्र में बताया गया है–

सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्त्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।।[12]

अर्थात् इस विश्व के असंख्य प्राणियों के असंख्य सिर, आँख और पैर उस विराट् पुरुष के ही सिर, आँख तथा पैर हैं। विश्व में सर्वत्र परिपूर्ण और सभी शरीरों में प्राणिमात्र के हृदय देश में विराजमान वह पुरुष भूमि को (निखिल ब्राह्माण्ड) सब ओर से घेर कर दश अंगुल (दश इन्द्रियों अर्थात् दृश्य–प्रपंच) का अतिक्रमण कर (बाहर निकलकर) अवस्थित हो गया (सर्वत्र व्याप्त हो गया) और उसे ही हम, राम, कृष्ण, विष्णु, शिव, अल्ला, यीशू, महावीर, बुद्ध, नानक आदि नामों से जानने लगे। जबकि वह परमेश्वर एक है– **''एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति''**।

यद्यपि आज जब हम यत्र, तत्र, सर्वत्र दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञात होता है कि चहुँ ओर धार्मिक उन्माद व्याप्त है। अभितः परितः हिंसा, हत्यायें हो रही है और कारण क्या उस हठधर्मिता को लेकर जो उस परमसत्ता को विविध रूपों में मानते हैं। कहीं मन्दिर के नाम पर तो कहीं मस्जिद के नाम पर लोग एक–दूसरे के रक्त के प्यासे हो जाते हैं। चारों तरफ आतंकवाद और हिंसा व्याप्त है। हम एक–दूसरे से ईर्ष्या और द्वेष की भावना रखते हैं। जबकि उस ईश्वर ने हमें सहृदय, एक मन वाला बिना द्वेष के बनाया है। हम एक–दूसरे से ऐसे स्नेह करें, जैसे– गाय अपने बछड़े से करती है–

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्नया।।[13]
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।[14]

अर्थात् हम सभी के जीवन का लक्ष्य एक हो, हृदय और मन एक हो, जिससे मिलकर जीवन में उस एक लक्ष्य को प्राप्त कर सकें। यदि ऐसी भावना हमारे भीतर प्रवेश कर जाये तो हमारा कलुषित मन शुभसंकल्पों वाला हो जायें– **''तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु''।**

हमारा राष्ट्र ''एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'' की मान्यता वाला देश है, इस धरा पर उत्पन्न इस आस्था को ही सनातन कहा गया है। सनातन का तात्पर्य– नित्य, शाश्वत, स्थायी है जिसके आदि और अन्त का पता न हो, उसे कुछ धर्माचार्यों द्वारा धर्म की संज्ञा से विभूषित कर दिया गया। जबकि धर्म क्या है? ध्रियते लोकोऽनेन, धरति लोकं वा, धृ (धृञ्)+मन् प्रत्यय से धर्म बना जिसका अर्थ है धारण करना, पालन करना, आश्रय देना आदि–आदि। वैदिक वाङ्मय में जगत् के धारण–तत्त्व का नाम धर्म है और धारण तत्त्व क्या है? वह पृथिवी (भूमि)। जिस पर अनेक पथ हैं, और ये पथ ही सम्प्रदाय हैं– शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर, वैष्णव, बौद्ध, जैन, सिक्ख, यहूदी, इसाई, इस्लाम, पारसी आदि भी सम्प्रदाय ही हैं, क्योंकि ये भी लक्ष्य तक पहुँचाने वाले पथ हैं, किन्तु कुछ हठधर्मी लोग इसे धर्म की संज्ञा दे दिये जिसके कारण आज मनुष्यों में भेद होने लगा और उन्हें भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र धर्म में विभाजित कर दिया। मुसलमानों को शिया और सुन्नी। सुन्नी में दो मुकल्लिद व गैरमुकल्लिद तथा मुकल्लिद में हनफी, देवबंदी, बरेलवी, हयाती, ममाती आदि–आदि में बाँट दिया गया जिसके कारण साम्प्रदायिक झगड़े बढ़ने लगे। एक–दूसरे को नीचा दिखाने में, समाज में विद्वेष पैदा करने का प्रयास करने लगे। कभी भाषा के नाम पर, कभी क्षेत्र के नाम पर, कभी जाति के नाम पर तो कभी सम्प्रदाय के नाम पर लोग मरने–मारने के लिये तत्पर हो जाते हैं। जबकि वैदिक वाङ्मय में लोगों को सहिष्णु बनाने के लिए शिक्षा प्राप्त होती है।

सहिष्णुता शब्द सहिष्णु+तल्+टाप् प्रत्यय के संयोग से बना है जिसका तात्पर्य है वहन करने की शक्ति या सहारा देने की शक्ति अथवा क्षमाशीलता या तितिक्षा। इस प्रकार से यह कह सकते हैं कि वैदिक वाङ्मय में मनुष्य को सहन करने योग्य या क्षमाशील होने की शिक्षा प्राप्त होती है। आज सबसे अधिक असहिष्णुता धर्म के नाम पर व्याप्त वितण्डावाद के कारण देखी जाती है। जगह–जगह मन्दिर, मस्जिद, मजार बनाने, उजाड़ने के कारण लोगों में कलह दिखाई देता है तो कहीं मन्दिरों में चढ़ावे की अधिकता के कारण लोगों में इतना अधिक डाह उत्पन्न होने लगता है कि उसके विरोध में खड़े हो जाते हैं। जिसके कारण असहिष्णुता का माहौल समाज में दिखाई देने लगता है। जबकि वाक्सूक्त में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि–

अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां / चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा / भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्।।[15]

अर्थात् मैं ही राष्ट्री यानी सम्पूर्ण जगत् की ईश्वरी हूँ। मैं उपासकों को उनके अभीष्ट वसु–धन प्राप्त कराने वाली हूँ। जिज्ञासुओं के साक्षात् कर्त्तव्य परब्रह्म को अपनी आत्मा के रूप में मैंने अनुभव कर लिया है, जिनके लिये यज्ञ किये जाते हैं, उनमें मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ सम्पूर्ण प्रपंच के रूप में मैं ही अनेक सी होकर विराजमान हूँ। सम्पूर्ण प्राणियों के शरीर में जीवरूप में मैं अपने– आपको ही प्रविष्ट कर रही हूँ। भिन्न–भिन्न देश, काल, वस्तु और व्यक्तियों में जो कुछ हो रहा है अथवा किया जा रहा है, वह सब मुझमें मेरे लिये ही किया जा रहा है। सम्पूर्ण विश्व के रूप में अवस्थित होने के कारण जो कोई जो कुछ भी करता है वह सब मैं ही हूँ।

इससे उस परमात्मा के विभिन्न स्वरूपों में समन्वय दिखता है। विविध रूपों की स्थापना, हमारे लोक–मस्तिष्क की विविध योग्यताओं की अनुकूलता का ध्यान रख कर की गई है। अन्तिम निष्कर्ष के रूप में सभी ने उस परम सत्य को ही लक्ष्य के रूप में प्राप्त करने को कहा है, जिसे ब्रह्मा, विष्णु, शिव, ईश्वर, आत्मा या महाशून्य के विविध नामों से जाना जाता है। यहाँ विविध प्रकार के देवी देवताओं के पूजन–यजन से समाज के विभाजन का तात्पर्य नहीं था बल्कि एक ही धर्म के ये सभी अविभाज्य अंग समाज की धारणा करते थे। हमारे समाज के इन सभी अंगों में वही जीवन दर्शन, वही लक्ष्य, वही बाह्य स्थूल पर आन्तरिक आस्था का प्रभुत्व, वहीं पुनर्जन्म में विश्वास, वही सत्य, वही ब्रह्मचर्य गुणों की पूजा, वही संस्कार व्याप्त थे। वही एक ईश्वर– राम, रहीम, अल्ला, शिव, ब्रह्म, बुद्ध, कर्त्ता, अर्हन्, कर्म रूप में व्याप्त है। वह सबका एकनाथ है। स्वर्ग, मृत्यु और पाताल तीनों लोकों का जो मालिक है जो सबका दुःखहरण करने वाला होने के कारण श्री हरि के नाम से विख्यात है, वह हमसब को वांछित फल प्रदान करे। हम सभी उस एक प्रभु की संतान हैं। हमारे विभिन्न नामों से पुकारे गये देवता एक हैं, सम्पूर्ण विश्व जगत् के वाङ्मय हमारे वेद का आदेश है–

''सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनां सि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।''[16]

अर्थात् एकत्रित हो जाइये, एक–दूसरे के साथ अच्छी बात कीजिए, अपने मन को समझा कर या सुसंस्कृत होकर एकमत हो जाइए। जैसे–हमारे पूर्व देवपुरूष जानबूझ कर इकट्ठे होते थे। आगे के मंत्र में यह कहा गया है कि–

''समानो मंत्रः समितिः समानी, समानं मनः सह चित्तमेषाम्।

समानं मंत्रं अभि मन्त्रये वः, समानेन वो हविषा जुहोमि।।''[17]

अर्थात् सबका मनन या विचार समान हो, सबकी समिति या सभा एक हो, हमारे सबका मन एक हो, हमसब मिलकर एक मंत्रणा करें, हमसब एक होकर एक चिंतन रूपक घृत से भावना को उदिप्त करें जो उत्तम ज्ञान, चित्त और धैर्य है जो प्रजाओं का आन्तर अमृत प्रकाश है, जिसके बिना कोई यज्ञ कर्म नहीं किया जाता, मेरा वह मन शुभ संकल्पों वाला हो–

''यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजाासु।
यस्मान्न ऋतेकिञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।''[18]

इस प्रकार आज मानव समाज अपनी एकता और गौरव को पुनः प्राप्त करे, इसके लिए आवश्यक है कि वह एकमात्र परमेश्वर का ध्यान करे, जो शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से परे है जिसे विद्वान् लोग अनेक नामों से पुकारते हैं– एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति। हम उसके दिखाये हुए कल्याण मार्ग का अनुसरण करें– **''स्वस्ति पन्थामनुरेम।''**[19] विश्वदेव सविता बुराईयाँ दूर करायें, जो कल्याणकारी है वह प्रदान करें।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव।[20]

यजुर्वेद में भी प्रेरणापत् वाक्य कहे गये हैं जो कि सहिष्णुता को स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं–

1 अच्छे मन वाले बने – **सुमना भव़**[21]
2 धर्म के मार्ग पर चलें – **ऋतस्य यथाप्रेत**[22]
3 मंगलकारी वचन कानों से सुनें – **भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम**[23]
4 मित्र की दृष्टि से सर्वत्र देखें – **मृत्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे**[24]
5 किसी के धन का लालच न करें – **मा गृधा कस्य स्विद धनम्**[25]

सामवेद में भी कहा गया है कि **जीवा ज्योति रशी महि।**[26] अर्थात् सभी जीव परम् प्रकाश को प्राप्त करें। **यज्ञस्यज्योतिः प्रियं मधु पवते।**[27] अर्थात् यज्ञ की ज्योति प्रिय और मधुर भाव उत्पन्न करती है। इसी प्रकार से **अथर्वेद** में भी मनुष्य के कल्याणार्थ प्रेरणाप्रद सूक्ति वाक्य मिलते हैं। यथा–

मानवो मानवं पातु[28] **–** अर्थात् मनुष्य मनुष्य को पाले।
माता भूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः[29]– अर्थात् माता भूमि है, हम पृथ्वी के पुत्र हैं।
सं श्रुतेनगमेमहि[30]– अर्थात् हम वेदोपदेश से युक्त हों।
यज्ञोविश्वस्य भूवनस्य नाभिः।[31]– अर्थात् यज्ञ ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को बांधने वाला नाभिस्थान है।
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाध्नत।[32] –अर्थात् ब्रह्मचर्य से ही विद्वान लोगों ने मृत्यु को जीता है।
मधुमतिं वाचमुदेयम्।[33]– अर्थात् मैं मीठी वाणी बोलू।
परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु।[34]– अर्थात् मृत्यु हमसे दूर हो और हमें अमृत पद प्राप्त हो।
एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः।[35]– अर्थात् एक परमेश्वर ही पूजा के योग्य और प्रजाओं में स्तुत्य है।
स नो मुञ्चत्वं हसः।[36]– अर्थात् वह ईश्वर हमें पाप से मुक्त करे।

इस प्रकार से वैदिक वाङ्मय में सर्वजगत् के कल्याण की कामना की गयी है और ईश्वर के एक स्वरूप को बलपूर्वक सिद्ध किया गया है–

सर्वमेव शमस्तु नः।[37] **स एष एक एकवृदेक एव।**[38]

<u>संदर्भ ग्रन्थ सूची</u> –

1. महाभारत–12 / 232 / 24
2. न्यायकुसुमांजलि, प्रथमस्तबकः, 101.
3. श्रीमत्सायणाचार्यविरचित भाष्य समेता कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयसंहिता। आदिम काण्डम्। प्रथमप्रपाठकै प्रथमोऽनुवाकः।
4. ऋग्वेद, 10 / 53 / 6
5. ऋग्वेद, 10 / 191 / 2.
6. ऋग्वेद, 1 / 89 / 2.
7. ऋग्वेद, 1 / 123 / 13.
8. ऋग्वेद, 5 / 51 / 15.
9. ऋग्वेद, 10 / 18 / 2.
10. ऋग्वेद, 10 / 18 / 10.
11. ऋग्वेद, 1 / 164 / 46.
12. ऋग्वेद, 10 / 90 / 1.
13. अथर्ववेद, 3 / 30 / 1
14. ऋग्वेद, 10 / 191 / 4
15. ऋग्वेद, 10 / 125 / 3
16. ऋग्वेद, 10 / 191 / 2
17. ऋग्वेद, 10 / 191 / 3
18. यजुर्वेद, 34 / 3
19. ऋग्वेद, 5 / 51 / 15
20. ऋग्वेद, 5 / 85 / 5
21. ऋग्वेद, रूद्र सूक्त
22. यजुर्वेद, 7 / 45
23. यजुर्वेद, 25 / 11
24. यजुर्वेद, 36 / 18
25. यजुर्वेद, 40 / 1
26. सामवेद, 259
27. सामवेद, 1031
28. अथर्वेद, 9 / 10 / 12
29. अथर्वेद, 12 / 1 / 12
30. अथर्वेद, 1 / 1 / 4
31. अथर्वेद, 9 / 10 / 14
32. अथर्वेद, 11 / 5 / 19
33. अथर्वेद, 16 / 2 / 2
34. अथर्वेद, 18 / 3 / 62
35. अथर्वेद, 2 / 2 / 1
36. अथर्वेद, 4 / 23 / 1
37. अथर्वेद, 19 / 9 / 14.
38. अथर्वेद, 13 / 5 / 7.

स्त्री विमर्श का अर्थ

कल्पना

एस0आर0एफ0 (हिन्दी विभाग)
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
Email id-vinkalpana@gmail.com

'स्त्री विमर्श' दो शब्दों से बना ऐसा शब्द है जो व्यापक अर्थ लिए हुए है, इसे सीमित शब्दों, वाक्यों द्वारा बताया अथवा समझाया नहीं जा सकता। 'स्त्री' अपने सामान्य अर्थ में औरत का बोध कराती है किन्तु यहाँ स्त्री, औरत होने के साथ–साथ विश्व की आधी आबादी भी है, स्त्री विमर्श का अर्थ इसी आधी आबादी पर विमर्श परक है। लैंगिक विभेद को मिटाना भी इस विमर्श का मूल है।

स्त्री विमर्श स्त्री को जानने, समझने, पहचानने का तर्क देती है, सदियों से स्त्री अपने अस्तित्व की पहचान के लिए दबे–उठे स्वर में संघर्ष करती रही है, किन्तु पुरूष सत्तात्मक समाज ने उस स्वर को महत्व नहीं दिया। उसकी स्थिति को उसकी नियति घोषित कर दिया गया। सीमोन द बोउवार लिखती है कि ''औरत पैदा नहीं होती बना दी जाती है।'' इस संक्षिप्त वाक्य में स्त्री की सारी व्यथा, सम्पूर्ण नियति छिपी है।प्रभा खेतान लिखती हैं–''स्त्रियां ही सारे जगत को पुरूषों की अपेक्षा अधिक आन्तरिकता से जानती हैं क्योंकि उनकी जड़े इसमें निहित हैं।''[1] पितृसत्तात्मक व्यवस्था में पुरूष को समाज की धुरी मानकर स्त्री को उसका अनुचर बना दिया गया, जिसके लिए पुरूष के प्रत्येक निर्णयों का मूक साक्षी होना अनिवार्य बताया गया, जहाँ ऐसा नहीं हो पाया वहाँ स्त्री को असभ्य, चरित्रहीन, कुलटा, आदि–आदि उपाधियों से सुशोभित कर दिया गया। स्त्री विमर्श, स्त्री को उसके अधिकारों क्षमताओं से युक्त कर इस पुरूष केन्द्रित समाज व्यवस्था से मुक्ति दिलाने की क्रान्तिकारी साहित्यिक एवं वैचारिक पहल है क्रान्तिकारी इसलिए क्योंकि सदियों से चली आ रही व्यवस्था के विरूद्ध आवाज उठाना क्रान्ति है, साहित्यिक इसलिए क्योंकि स्त्री विमर्श का मुद्दा लेखों, पुस्तकों के माध्यम से ही आगे बढ़ा और वैचारिक इसलिए क्योंकि कोई भी सुधारवादी दृष्टिकोण तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि उसे विचारों में स्थान ना मिले और स्त्री विमर्श के सन्दर्भ में तो यह और भी अधिक महत्वपूर्ण है। क्योंकि स्त्री विमर्श का मुख्य विषय सदियों से चला आ रहा स्त्री शोषण है, और स्त्री शोषण कोई सामाजिक नियम कानून नहीं अपितु यह पुरूष के मस्तिष्क में कूट–कूट कर भरा गया एक नकारात्मक विचार है जिसके अनुसार स्त्री शारीरिक रूप से और मानसिक रूप से उतनी सक्षम नहीं है जितना कि पुरूष और इसलिए वह उसके साथ खड़े रहने योग्य नहीं है, ये विचार न सिर्फ पुरूष मस्तिष्क का फितूर है अपितु स्त्रियों का भी एक बड़ा वर्ग इस विचाराधारा के आगे नतमस्तक है, इसलिए इस विमर्शवादी आन्दोलन को साहित्यिक या राजनैतिक बनाने से अधिक आवश्यक

इसे वैचारिक आन्दोलन बनाना है। प्रसिद्ध समीक्षा मधुरेश जी लिखते हैं– ''अन्ततः स्त्री को अपनी लड़ाई स्वयं लड़नी होगी। हिन्दी कथा साहित्य में भी परती तैयार करके बीज बोने की प्रक्रिया शुरू हो चुकी है.....साहित्य और संस्कृति की फसलें अनाज की फसलों की तरह चन्द महीनों में पककर तैयार नहीं होती।''[2]

स्त्री को अपनी क्षमता का आत्मबोध करके, अपनी पात्रता, सामर्थ्य, योग्यता, विशेषता को प्रस्तुत करना होगा, तभी स्त्री विमर्श की सार्थकता सुनिश्चित होगी। प्रसिद्ध लेखिका अनामिका लिखती है– ''पारम्परिक रेखाओं को मिटाना आसान नहीं है, लेकिन स्त्री को इससे भयभीत होने के बदले इसका सामना करना चाहिए और इन्हें समझना चाहिए। उन सीमाओं को लांघना होगा जिनका सामना रोजमर्रा की जिन्दगी में होता है। दो व्यक्तियों की भिन्नता के बीच भी एक गुंजाइश होती है और इस गुंजाइश की अपनी अनंत संभावनाएं है। इन्हें समझाना और समेट कर चलना एक कठिन कार्य है, लेकिन इसे करना मुक्ति के लिए आवश्यक है।'' इसी परम्परा से स्त्री को मुक्त होने की आवश्यकता है।

स्त्री विमर्श का मुख्य ध्येय स्त्री को पुरूष निर्मित पारम्परिक नैतिकता, मान्यता, बंधन रूपी जाल से मुक्त करना है, जिसे पुरूष स्त्री की नियति बताता रहा है। एम0ए0 अंसारी अपनी पुस्तक 'नारी तुम क्या?' में लिखते है– '' नारी से पुरूष की अपेक्षा है कि वह आदर्शमय रहे, वह धर्म परायणा हो। धर्म के लक्षण है–त्याग, तितिक्षा, तप, शील, संयम, शौच, प्रेम, दया, करूणा, क्षमा आदि। ..... नारी के चरित्र की आदर्शमय धवलता एक सतत साधना का परिणाम है। इसका सारा जीवन निष्कलंक ही होगा, ऐसी उससे समाज की अपेक्षा है।''[3] अंसारी जी ने बड़ी चतुराई से स्त्री को देवी बनाकर उसे अपनी दासी बना लिया, जो पुरूष निर्मित समस्त मानकों पर खरी होकर भी पुरूष निर्णयों पर आधृत है क्योंकि उसे आजीवन निष्कलंक जो रहना है। प्रेमचन्द लिखते हैं–''स्त्रियों को धर्म और त्याग का पाठ पढ़ा–पढ़ा कर हमने उनके आत्मसम्मान एवं आत्मविश्वास दोनों का अन्त कर दिया अगर पुरूष स्त्री का मोहताज नहीं तो स्त्री पुरूष की मोहताज क्यों।''[4] कहते है अधिकारों के बिना कर्तव्य और कर्तव्य के बिना अधिकार बेमानी है, लेकिन स्त्रियों के संदर्भ में यह जुमला निरर्थक साबित हुआ, क्योंकि स्त्रियों से कर्तव्य निर्वहन की आशा तो बराबर रही, बल्कि यह कह सकते है कि कर्तव्य निर्वहन उसकी मजबूरी रही, लेकिन अधिकारों से उसका दूर–दूर तक का कोई सरोकार नहीं रहा। इसका एक सशक्त उदाहरण वे महिलाएं है जो आर्थिक रूप से स्वावलम्बी होने के बावजूद अपने स्त्री होने को अपनी कमजोरी समझती है। मुक्ति की आकांक्षा, अस्मिता के प्रति चेतना एवं शोषण के प्रति विद्रोह की भावना के बावजूद वे इनसे बचती है। रमणिका गुप्ता लिखती है– ''ये स्त्रियां एक तरफ अपने धार्मिक, सांस्कृतिक व सामाजिक दबाव में होती है, तो दूसरी ओर औरत होने की अपनी हीन ग्रन्थि से वे इतनी त्रस्त होती है कि उनमें आत्म विश्वास की कमी पनप जाती है। वे सामाजिक वर्जनाओं व सामाजिक निंदाओं से त्रस्त और भयभीत ही नहीं रहती बल्कि वे धार्मिक अंधविश्वासों, पापबोध और अपराध बोध की ग्रन्थियाँ की भी शिकार होती है।''[5] यह भावना स्त्री के मन में पुरूष समाज द्वारा सदियों से रोपित की जाती रही है जिससे आज 21वीं सदी में भी स्त्री आंशिक रूप से भी मुक्त नहीं हो सकी है।

यहाँ यह नहीं कहा जा रहा है पुरूष की भाँति स्त्री भी स्वच्छंद विचरण के लिए छोड़ दी जाए, बल्कि यह कहा जा रहा है कि स्त्री को स्वयं उसका स्वच्छ, स्वस्थ, आत्मनिर्भर और विश्वसनीय स्थान प्राप्त करना है, जहाँ उसे अपने कर्मों को पुरूष दृष्टिरूपी तराजू में तोलने की आवश्यकता न पड़े, अपितु उसका अपना विवेक उसका मानक हो, वह पुरूष की उस सोच दृष्टि से मुक्त हो जहाँ पर आरोपों से बचती–बचती भी आरोपित हो जाती है। ''स्त्रीवाद आज के अधिकांश हिन्दी लेखकों की तरह साहित्यिक फैशन नहीं है।''[6] पुरूष समाज द्वारा निर्मित दोहरे मानदण्डों से मुक्ति उसका मुख्य ध्येय है, जहाँ स्त्री के लिए अलग नियम कानून है और पुरूष के लिए अलग स्त्री विमर्श इन मानदण्डों में समानता की वकालत करता है। गॉधी जी लिखते हैं– ''स्त्री पुरूष की गुलाम नहीं है वह पुरूष की अर्धांगिनी है, सहगामिनी है, उसे मित्र समझना चाहिए किन्तु पुरूष स्त्री को अपनी सहयोगी या मित्र समझने के बजाय अपने को स्वामी समझता है, शासक मानता है यह पुरूष का अन्याय है। गॉधी जी स्त्री और पुरूषों के समानाधिकार के पक्षपाती थे लड़के और लड़कियों के साथ पूर्ण समानता का व्यवहार करते थे वे चाहते थे कि महिलाएँ अनुचित कानूनों का विरोध करें क्यों कि बुराई, बुराई की जड़ को काट कर ही दूर की जा सकती है।''[6]

स्त्री विमर्श अपने मुद्दे से भटक न जाए इसके लिए उसकी स्पष्टताँ अधिक आवश्यक है। क्योंकि अक्सर सभ्य साहित्यिक समाज में बात प्रचारित है कि स्त्री विमर्श स्त्री को पुरूष बनाने की वकालत है, स्त्री को दया, ममता आदि उसके स्वाभाविक गुणों से भटकाने का तरीका है। निःसदेह समस्त मानवीय गुण पुरूषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक होते है, किन्तु इस कारण स्त्री कमजोर नहीं बल्कि अधिक सक्षम है, इनके कारण उसे कमजोर बताकर अलग–थलग नहीं किया जा सकता अपितु वह इन गुणों के साथ आगे बढ़कर अपनी राह खोजने में सक्षम है।

स्त्री विमर्श का अर्थ मात्र इतना है कि स्त्री वैचारिक रूप से आर्थिक रूप से और सामाजिक रूप से उतनी ही योग्य और सशक्त है जितना कि पुरूष और इसी बात को पुरूष और स्त्री दोनों को सकारात्मक रूप से समझाना स्त्री विमर्श का उद्देश्य है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची –

1 स्त्री उपेक्षिता– प्रभा खेतान भूमिका पृष्ठ संख्या 30
2 हिन्दी उपन्यासः सार्थक की पहचान–मधुरेश पृष्ठ संख्या 163
3 नारी तुम क्या? एम0ए0 अंसारी पृष्ठ संख्या 163
4 'कुसुम' मानसरोवर भाग 2–प्रेमचन्द पृष्ठ संख्या 14
5 स्त्री मुक्ति संघर्ष और इतिहास–रमणिका गुप्ता पृष्ठ संख्या 35
6 स्त्री अस्मिताः साहित्य और विचारधारा–सम्पादक जगदीश्वर व सुधा सिंह पृष्ठ संख्या 242
7 महिलाओं की स्थिति– महात्मा गॉधी पृष्ठ संख्या 27– 28

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और 'प्रवाद–पर्व'

रामचन्द्र रजक
(वरिष्ठ शोध छात्र)

हिन्दी विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

अभिव्यक्ति काल के धनी श्री नरेश मेहता ने **'प्रवाद–पर्व'** में मुख्य रूप से आपातकाल के समकालीन दबावों को प्रचछन्न अभिव्यक्ति दी है। इसका प्रकाशन सन् 1977 ई0 में हुआ था। चूँकि यह कृति आपात्–स्थिति के समानान्तर रची गयी है, अतः तत्कालीन विसंगतियों से जन्में प्रश्नों से साक्षात् करते हुए कवि ने 'समय की प्रामाणिकता' के लिहाज से आश्वस्त किया है। 'प्रवाद–पर्व' में नरेश मेहता ने राम को मानव के रूप में दिखलाकर चिंतन स्वातंत्र्य, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और न्याय समता पर बल दिया है।

आधुनिकता की सबसे बड़ी माँग अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य है। व्यक्ति का स्वतंत्र चिंतन ही उसे मानव होने की प्रतिष्ठा प्रदान कर सकता है। केवल स्वतंत्र चिन्तन के लिए ही नहीं अपितु राजनैतिक व्यवस्था में अपने अस्तित्व की सार्थकता के लिए भी उसे पूर्ण अधिकार मिलना चाहिए अन्यथा इस व्यवस्था के अधिष्ठाता निरंकुश हो जाते हैं। ''अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य व इस स्वतंत्रता की रक्षा, वे महनीय मूल्य माने जाते हैं, जिसके द्वारा मनुष्य एक सामाजिक प्राणी, समाज एक मानवीय संस्था व राज्य एक जनतंत्र का प्रतीक बन जाता है। हमारे वेद, उपनिषद, उपाख्यान, काव्य, मंत्र, इतिहास आदि सभी ने तो मनुष्य की ही अभिव्यक्ति है और इस अभिव्यक्ति को ही यदि अवरूद्ध कर दिया जाए तो यह सृष्टि जड़ मात्र बनकर रह जायेगा।''[1] इसलिए अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का उद्घोष करते हुए राम कहते हैं: **''गूँगेपन से कही श्रेयस है/वाचालता जिस दिन मनुष्य अभिव्यक्तिहीन हो जायेगा**
वह सबसे अधिक/दुर्भाग्यपूर्ण दिन होगा।''[2]

कवि ने अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य को व्यक्तित्व विकास का अपरिहार्य अंग माना है। इसके बिना व्यक्ति का सम्पूर्ण विकास होना सम्भव नहीं है। व्यक्तित्व ही व्यक्ति की वह पूँजी है जिससे वह अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति बड़ी सरलता से प्राप्त कर सकता है। कवि का दृढ़ विश्वास है कि–

''ऐसे ही बोलते हुए/एक दिन मनुष्य/निश्चय ही ईष्वर हो जायेगा''[3]

मनुष्य मात्र ही सृष्टि की जिह्वा है। मनुष्य को यदि भाषाहीन कर दिया गया तो यह सृष्टि ईश्वरहीन हो जायेगी। कवि की लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति

आस्था यही दर्शाती है कि राजव्यवस्था में मानव अस्तित्व की महत्ता का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। इसलिए व्यक्ति अभिव्यक्ति अपने आप में महनीय है। एकाकी मनुष्य की अभिव्यक्ति भी कोई सत्य को उद्घाटित कर सकती है। इसीलिए सामान्य मनुष्य की तर्जनी को चुनौती रूप में नहीं अपितु सहज सत्य की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकारना चाहिए क्योंकि सत्य की चरितार्थता किसी शासक या सत्ताधारी तक सीमित नहीं होती है, वह देशकाल से ऊपर होती है।

अभिव्यक्ति के कारण ही सृष्टि में मनुष्य सबसे महान माना जाता है। सृष्टि का एक–एक तत्व मनुष्य के माध्यम से ही मुखरित होता है। वह इसे सौन्दर्यवान बनाता है। कवि ने व्यक्ति की अभिव्यक्ति को प्रभु की अपेक्षा भी अधिक महत्व दिया है। ''शब्द को ब्रह्म कहा गया है। अगर शब्द ही मूक हो गया तो राष्ट्र जो कि शब्द है उसकी महत्ता ही नहीं रह जाएगी।''[4]

कवि अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के समर्थक है किन्तु इसकी दुरूपयोगिता को भी मानवता के लिए अहितकारी बतलाया है। व्यक्तिगत रागद्वेष, वक्तव्य आक्षेप, शंकायें और अभिमत जो सामान्य जन–जीवन, राष्ट्रीय गरिमा और चरित्र हनन के प्रयास हेतु व्यक्त किये जाये वह निन्दनीय अपराध है। ऐसी अभिव्यक्ति को तो दायित्वहीन वाचालता कहा जायेगा। इसलिए अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य में विवेक और दायित्व भावना होना आवश्यक है। इसके अभाव में अराजकता की स्थिति निर्माण हो सकती है जो कि राजद्रोह की जननी मानी जाती है। इसलिए व्यक्ति की अभिव्यक्ति की आजादी तो होनी चाहिए लेकिन आजादी इतनी न हो जाए कि व्यवस्था ही अमर्यादित हो जाए। वह समाज एवं राष्ट्र की गरिमा का ध्यान रखकर ही अपने विचारों की अभिव्यक्ति करें। इसी में मनुष्य एवं राष्ट्र दोनों का कल्याण निहित है। तभी हम एक उज्ज्वल भविष्य एवं समाज की कल्पना कर सकते हैं। जिसे 'रामराज्य' की संज्ञा दी जा सकती है।

कवि का 'प्रवाद–पर्व' अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य का दस्तावेज है। निर्भय अभिव्यक्ति के द्वारा ही सत्य को प्रतिष्ठित कर प्रजातांत्रिक मूल्यों की रक्षा हो सकती है। यह तभी सम्भव है जब स्वतंत्रता जैसे महान मूल्य का दुरूपयोग नहीं होगा। शासक और जनसाधारण दोनों में समन्वय होना आवश्यक है। यदि दोनों के बीच सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाता तो एक लोक कल्याणकारी राष्ट्र की कल्पना करना मेरे लिए व्यर्थ होगा। इस बात को ही ध्यान में रखकर कवि ने जनसाधारण को भी अत्यधिक महत्व दिया है। नरेश मेहता ने साधारण जन की उपेक्षा को निन्दनीय एवं अमानवीय मानते हैं और सचेत करते हुए कहते हैं कि–

''वे लोग/अपनी पिपीलिकावत साधारणता के साथ
इतिहास की आग पर चलकर/पुराण–पुरूष बन जाते हैं।[5]

कवि साधारण जन की स्वतंत्रता के समर्थक हैं। साधारणजन को अभिव्यक्तिहीन कर दिया गया तो यह सृष्टि भी ईश्वरहीन हो जायेगी। किसी साधारण व्यक्ति की शासन सत्ता के सम्बन्ध में उठी तर्जनी को राम एक प्रकार से जन अभिलाषा का प्रतीक स्वीकार करते हुए उसमें मंत्रों, जैसी अपार शक्ति की सम्भावनाएं व्यक्त करते हैं। रावण जैसा निरंकुष व्यक्तित्व जो झुके मस्तक और आज्ञा सुनते कान ही पसन्द करता था। इसी इतिहासहीनता और सामाजिक भाषाहीनता ने शान्ति के महा–उपासक के विरूद्ध असहमति में एक अनाम साधारणजन की तर्जनी सा उठा हुआ हाथ प्रति–इतिहास के रूप में खड़ा किया किन्तु रावण ने जब इसको कुचल दिया तो इन साधारणजन ने ही चक्रवर्ती के विरूद्ध युद्ध का आवाहन किया था। इसीलिए मनुष्य और उसकी अनाम साधारणता को इतिहासहीन करना औचित्यपूर्ण नहीं है। कवि तो यहाँ कहता है कि –

''जब कोई पृथुज्ज्न या साधारण जन
अध पेट खाकर रह जाता है/तो उसके चरित्र की
यह धैर्य परीक्षा– सीता की अग्नि परीक्षा से/ किस अर्थ में कम है?/तब
क्या हम उसके लिए भी/ इतने ही इतिहास दोषी नहीं है।''[6]

आधुनिक बौद्धिक चेतना साधारण से ही विराटता का उत्सृजन स्वीकार करती है। यही कारण है कि उसके समक्ष एक धोबी की अभिव्यक्ति का भी मूल्य है और राज्य के प्रतिनिधियों की अभिव्यक्ति का भी। आज तक एकाकी व्यक्ति का जो तिरस्कार और उपेक्षा होती आयी है, उसे कम से कम लोकतंत्रात्मक व्यवस्था में तो स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा होता है तो लोकतंत्रात्मक मूल्यों की अवमानना ही होगी। यदि साधारण व्यक्ति को न्याय नहीं मिलता है तो आज की व्यवस्था असफल और प्रश्नांकित ही मानी जायेगी। आज सबसे अधिक साधारणता को कुचला जा रहा है उसी की अभिव्यक्ति का प्रश्न यहाँ महत्वपूर्ण है– **''यह कैसी विडम्बना है प्रिये! कि/शक्ति का उत्तर तो**
प्रतिशक्ति से दिया जा सका/परन्तु इस सर्वथा साधारणता का
क्या उत्तर हो सकता है? ''[7]

साधारणजनों के प्रति कवि की मानव दृष्टि यही दर्शाती है कि यदि साधारणजन की समस्या का समाधान नहीं किया गया तो प्रजातंत्र का ढाँचा चरमराकर टूट सकता है। एक साधारण व्यक्ति अपने अस्तित्व के लिए अपने निश्चित आदर्श की रक्षा के लिए प्राणों की बाजी भी लगा सकता है। रावण जैसे शक्तिशाली शासक के विरूद्ध भी युद्ध के लिए तैयार हो जाते हैं। राम इस सत्य से परिचित थे और उन्होंने साधारणजन की तर्जनी को पूरी महत्ता दी और उसके संकेत पर अग्नि–परीक्षित सीता को पुनःवन के रास्तों पर चलना पड़ा। निःसंदेह यह सीता के साथ एक गहरा अन्याय था, किन्तु

प्रज्ञावान राम के लिए साधारणजन की शंका का शमन करना ही उदात्त अभीष्ट था।

समग्रतः कवि ने अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य मूल्य को व्यक्तित्व विकास के लिए आवश्यक माना है। इसी के द्वारा जनसाधारण की महत्ता सिद्ध हो सकती है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची –

1. हिन्दी रामकाव्य : नये संदर्भ, डॉ0 प्रमिला अवस्थी, पृ0सं0–108.
2. प्रवाद–पर्व, नरेश मेहता, पृ0 सं0–43.
3. वही, पृष्ठ–53.
4. नरेश मेहता कृत महाप्रस्थान, विष्णु प्रभा शर्मा, पृष्ठ–18.
5. प्रवाद–पर्व नरेश मेहता, पृष्ठ–31.
6. वही पृष्ठ–99.
7. वही पृष्ठ–71.

समकालीन हिन्दी कहानी और जनवाद

रामकृष्ण पाण्डेय

शोधछात्र
हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
ईमेल–rk.pandey28889@gmail.com

समकालीन शब्द अपनी अर्थवत्ता की दृष्टि सामान्य एवं विशिष्ट शब्द है। समकालीनता का सामान्य अर्थ समय के साथ चलने या होने से है। यदि इस अर्थ पर ध्यान केन्द्रित किया जाय तो यह बात सामने आती है कि आज हमारे आस पास जो भी कुछ हो रहा है वह समकालीन है। यदि इस बात को सत्य मान लें तो आज के 100, 200 या 400 वर्ष पूर्व जो मनुष्य, समाज या साहित्य रहा होगा वह भी अपने समय में समकालीन ही रहा होगा लेकिन आज हम उसे समकालीन नहीं कहते हैं, ऐसा क्यों? ऐसा इसलिए है कि समकालीन होने का अर्थ सिर्फ समय के बीच होने या रहने से नही है। समकालीन होने का अर्थ है समय के वैचारिक और रचनात्मक दबावों को झेलते हुए उनसे उत्पन्न तनावों और टकराहटों के बीच अपनी सर्जनशीलता द्वारा अपने होने को प्रमाणित करना। समकालीन लेखक की पहचान यहीं से हो सकती है कि अपने समय के सवालों के प्रति वह किस तरह प्रतिक्रिया करता है और अपने लेखन में उन सवालों के लिए जो जगह वह निर्धारित करता है, उन सवालों के प्रति वह कितना गंभीर है, कहीं न कहीं इन सबसे ही उसकी समकालीनता सुनिश्चित होती है।[1]

जिस जनवाद का आन्दोलन हम साहित्य में खड़ा कर रहे हैं, उसमें जनता के अन्तर्विरोध कम उभरे हैं, हमारे आपसी अन्तर्विरोध अधिक तीखे ढंग से प्रकट हुए हैं। बहरहाल, कहानियों में जनवाद के इन रूपान्तरों ने कहानी को बहुत आगे नहीं बढ़ाया है। आज कलाहीनता, सपाटबयानी और अनजान चेहरों की चर्चा, नकली यथार्थ, नक़ली कहानी, अजीब तरह से आ रही है। इस प्रकार की शिकायतों को करने वाले लोग भी सामान्य नहीं है यह शिकायत बड़े–बड़े लोग कर रहे हैं, लिखकर भी और गोष्ठियों–दूरदर्शन के मंच से भी। पर यह कोई नहीं बता रहा कि असली कहानियाँ कैसी हों। चूँकि सैद्धान्तिक बहसों ने चीज़ों को और भी उलझा दिया है, इसलिए इस टिप्पणीनुमा लेख में कोई सैद्धान्तिक बहस नहीं की गई है। पर इससे यह न समझना चाहिए कि इसका कोई सैद्धान्तिक पक्ष भी नहीं है। सिद्धान्त ज़रूरी है, और व्यवहार से परीक्षित होने पर और भी ज़रूरी हो जाता है।

प्रगतिशीलता को नाकामी मानने वाले उभयपक्ष अपने को ज़्यादा क्रान्तिकारी मान कर चले हैं। नई कहानी ने कहानी के आन्दोलन को कोई राजनीतिक नाम तो नहीं दिया

था, मगर राजनीतिक धारा अवश्य दी थी। नाम बिखर गया, धारा जीवित रही। किस रूप में जीवित रही? इस धारा में ऐसे लोग थे जिन्होंने राजनीतिक कहानियाँ शायद ही लिखी हों (आज स्थिति यह है कि एक राजनीतिक कहानी पर पूरी बहसें टिका दी जाती हैं। यह और भी दुर्भाग्यपूर्ण है।)

आज के समाज को लोग किस तरह देख रहे हैं? वे अन्वर्यैक्तिक समाज और निर्वैयक्तिक समाज के ऐतिहासिक भेद को मिटा कर कहानी से कला की माँग कर रहे हैं। वे नहीं देख पाते कि हमारी सामाजिक बनावट में ही परिवर्तन ख़तरों से भरा हुआ है। ख़तरा मोल लिए बिना न तो उस बनावट को तोड़ा जा सकता है और न परिवर्तन ही लाया जा सकता है। हर व्यवस्था संरक्षणशील होती है। भारतीय व्यवस्था को आचार्य द्विवेदी जी संरक्षणशील मानते हुए उसका सरलीकरण न कर रहे थे। ऐसी संरक्षणशील व्यवस्था विश्व समाज में कम ही दिखाई पड़ती है। पर इस संरक्षणशील समाज की आन्तरिक व्यवस्था विस्फोटक स्थितियों तक पहुँच गई है। आज इस विस्फोट की पूर्व परिस्थितियाँ हमें दिखाई पड़ने लगी हैं। अवश्य ही इस विस्फोटक परिस्थिति को कलमबन्द करते हुए कहानीपन पर ध्यान रखना भी अनिवार्य है।[2]

आज का हिन्दी कहानीकार क्या केवल घटनाओं का ही पीछा कर रहा है? क्या घटनाओं की व्याप्ति का यह लक्षण कोई रचनात्मक अर्थ नहीं रखता? इसे तय किए बिना झूठी–सच्ची कहानियों को अलगाया भी नहीं जा सकता और न सही रचना–धर्म की पहचान ही हो सकती है। ऐसी स्थिति में कहानी की दुनिया में एक बार फिर से प्रवेश करने की ज़रूरत नहीं है क्या? इस दूसरे प्रवेश से क्या हासिल होगा? ये तमाम सवाल आज जनता के जीवन और जनवाद से जुड़ गए हैं और लेखक को अनिवार्यतः प्रभावित भी कर रहे हैं।

आज घटनाओं की स्मृति को मिटा पाना निरन्तर मुश्किल होता जा रहा है। आतंक उन्हें मिटने नहीं दे रहा है। ऐसी ही परिस्थिति में उनमें संघटित संघर्ष की भावना भी जन्म ले रही है। इस सामाजिक यथार्थ को नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता। आतंक के भीतर भी एक जीवित प्रतिरोध क्या कहानियों का विषय बनकर इतना नक़ली हो जाता है! यह ठीक है कि आतंक का यह क्षेत्र अभी बिखरा–बिखरा और क्षेत्रीय लगता है। पर इस क्षेत्रीय दिखने वाले यथार्थ की ओर से आँखें मूँद कर भी हम इतिहास के प्रति सचेत बने रहने का दावा नहीं कर सकते। यह वह क्षेत्र है जिसे हम भावी सर्वहारा की खेतिहर पृष्ठभूमि कह सकते हैं। इस संघर्ष से निकला हुआ समुदाय भविष्य की राजनीतिक लड़ाइयों का बड़ा प्रभावी हिस्सा साबित हो सकता है। बिना किसी अतिरिक्त उत्साह के भी इस प्रक्रिया को देखा–परखा जा सकता है।[3]

दुर्भाग्य यह है कि जहाँ भारतीय जनता के अन्तर्विरोध और अन्तर्विभाजन से देश में जनवाद की परिस्थितियाँ आहत होती हैं, वहीं राजनीतिक अन्तर्विभाजन से भी जनवाद की दिशा में कोई सही प्रगति मुश्किल हो रही है। महाराष्ट्र का दलित साहित्य भी इसीलिए मुख्य जनवादी धारा में आने से रह गया है। इसी तरह अपने यहाँ पूर्वी क्षेत्र में झारखण्ड

के आन्दोलन ने हिन्दी विरोधी रूख़ अपनाकर मुख्यधारा से जुड़ने से इनकार किया है। सम्प्रदायवाद के आकस्मिक उन्माद के साथ भी जनता का विभाजन हुआ है और जनवाद को धक्का लगा है। इन तमाम प्रश्नों के साथ मुख्यधारा का संयोजन नहीं हुआ है।

इस तात्कालिक परिस्थिति में जनवाद के बाधक तत्वों की शक्ल साफ़ होती है। ऐसी स्थिति में क्रान्तिकारी जनवाद का वास्तविक रूप क्या हो, इसे उग्रता से तय करना ख़तरनाक होगा। अनेक उग्रवादी गुट और संघटन भी इधर इस निष्कर्ष तक पहुँचे हैं। इस दौर में मध्यवर्ग के एक उत्साही हिस्से ने आगे बढ़कर कार्य ज़रूर किया, मगर उसने उन परिस्थितियों से लगभग इनकार किया, जिनमें ये लड़ाइयाँ चलाई जातीं और निर्णायक होतीं। वैसे यह उग्रवादी धारा लगभग डेढ़ दशक पहले ही बांग्ला में अपना प्रभाव खोने लगी थी और आज बंगाल में उनका कोई जनवादी लेखक संघ व्यापक संघटन के रूप में लक्षित नहीं होता।[4]

इच्छा–स्वप्न शायद ही देखे जाते हैं। फिर भी आदमी न सपने देखना बन्द करता है और न परिस्थितियों के लिए आर–पार पुल बनाना ही बन्द करता है। प्रेमचन्द ने भी लिखा था, 'मैंने सपने देखना बन्द नहीं किया।' परिवर्तन के सपने अलग–अलग हो सकते हैं और हैं। शैवाल की अधिकांश कहानियों में परिस्थितियाँ तो हैं, घटनाएँ नहीं हैं जिनके कारण यह तमाम निष्कर्ष निकाले जा रहे हैं। पुन्नी सिंह की अधिकांश कहानियों में फ़ैसले के लिए तैयार करती परिस्थितियाँ हैं। तमाम छोटी छोटी पत्रिकाओं में निकली कहानियों को देखकर भी ऐसा नहीं लगता कि जिस राजनीतिक धारा बहाने की इधर चर्चा है, वह नक़ली, स्वकामी और स्वदर्शी है। शंकर ने दंगों पर मार्मिक कहानियाँ लिखी हैं, बैलगाड़ीवानों की रोज़मर्रा ज़िन्दगी की कशमकश दिखाई है। मिथिलेश्वर के 'दूसरा मृत्युंजय' में बड़ी सूक्ष्मता से कामनाशेष मन की विडम्बनाओं को उजागर किया गया है। संजीव की कहानियों में उपन्यास की अपेक्षा अधिक गहरे संश्लिष्ट तत्व देखे जा सकते हैं। बिहार, राजस्थान और मध्य प्रदेश के नए लेखक क्यों इस परिस्थिति से जूझ रहे हैं। जहाँ भी भूमि की समस्या है, वहाँ वर्ण तनाव भी है। जहाँ श्रम की समस्या है (कृषि–श्रम) वहाँ भी यही तनाव है, वर्ग–संघर्ष को संघटित करने वाली राजनीतिक शक्तियाँ अब भी अधिकांश में इन मुक़ामों से बाहर हैं। ऐसी स्थिति में कहानी की राजनीतिक धारा उत्पन्न करने के बजाय, लाइनों का संघर्ष चल रहा है, नेतृत्व और कब्जे की होड़ चल रही है। यह दुखदायी परिस्थिति है जो लेखक को निराश करती है और उसके प्रयत्नों को व्यर्थ बना देती है।

हमारे क्षेत्र का एकदम नया लेखक लिखता है, 'अब या तो कुछ अजीब नहीं लगता या सब कुछ अजीब लगने लगता है,... तो अन्दर से एक आवाज़ सुनाई देती है, 'होशियार! कहानी तुम्हें लिखने वाली है।' कथाकार की इस परिस्थिति को क्या एकदम नज़रअन्दाज़ कर उससे कुछ और की माँग की जाय? या इस मार्मिक संभ्रमपूर्ण परिस्थिति में जन्म लेने वाली कहानी को इसी मानसिकता की ज़मीन पर परखा जाए। बाहर–भीतर सर्वत्र

अनिर्णायक युद्ध के इस दौर में कला क्या यह नहीं कहती, 'सावधान, कहानी ज़िन्दगी लिखने वाली है।'[5]

कहानियाँ भी साहित्य की स्वीकृत कला नहीं रही। कहानी और कहानीकारों ने कभी इसकी परवाह भी नहीं की। कला और जनवाद के रिश्ते, कम से कम भारतीय सन्दर्भ में, आज कथ्य की मार्मिक पहचान से तय होते हैं। प्रसंगों की विविधता में यह मार्मिक पहचान कहानी को नया अर्थ विस्तार दे रही है, उसकी दूसरी अपेक्षाएँ समय के साथ पूरी होंगी। वैसे इन दूसरी अपेक्षाओं को पूरा करने का रचनात्मक प्रयत्न जारी है और स्वयं लेखकों की आत्मसजगता का भी एक हिस्सा है।

कला के प्रकार्य का सार फब्तियों में, फार्मूलों में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। मगर इतना निर्विवाद है कि कला एक प्रकार की निपुणता है और यह निपुणता सहज नहीं आती। इसके लिए रचना की सरहदों पर निरन्तर संघर्ष करना पड़ता है। रचना की ये सरहदें कहाँ बनती हैं? आज की स्थिति में ये एक वास्तविक किन्तु अनजानी दुनिया पर अधिकार करने की रचनाशीलता में ही बनती है। जहाँ अभिधात्मक पहचान और सर्वव्यापी चेतना की आवश्यकता है, वहाँ पूर्ववर्ती अनम्य कला रूपों, उदाहरण के लिए मिथक को तोड़कर कोई निकलने वाला रास्ता ही व्यापक और जटिल अनुभवों तक हमें ले जा सकता है। जादुई यथार्थ महज़ कला के आदिम रूपों की वापसी तक जाकर कभी समकालीन नहीं हो सकता। हमारे लिए तो और भी नहीं।[6]

संदर्भ ग्रन्थ सूची –

1. हिन्दी कहानी का विकास–मधुरेश, पृ0 176.
2. आधुनिकता और उत्तरआधुनिकता–गंगा प्रसाद विमल, पृ0 87.
3. हिन्दी कहानी रचना और परिस्थिति–सुरेन्द्र चौधरी, पृ0 143.
4. वही, पृ0 145.
5. वही, पृ0 146.
6. समकालीन हिन्दी कहानी–डॉ0 एन0 मोहनन, पृ0 93.

रामचरितमानस् : एक दार्शनिक विवेचन

हरिकेश कुमार त्रिपाठी

शोधच्छात्र, संस्कृत–विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,इलाहाबाद।
Email: hktripathi1988@gmail.com

वेदमत एवं लोकमत का समन्वय ही रामकथा (परमार्थ सत्ता) है क्योंकि दोनों का अस्तित्व परमार्थ की ओर गतिशील रहने में ही है। इस महाकाव्य में रामकथा की उत्पत्ति और विकास का परमाश्रय रामतत्त्व ही है। रामचरितमानस में भारतीय संस्कृति के विविध मूल उपादानों का समन्वय किया गया है जो समाज, राष्ट्र या सम्पूर्ण मानवता को निरन्तर मंगल प्रदान करने में समर्थ है। राम का अभिप्राय सत्–चित्–आनन्दस्वरूप, त्रिकालाबाधित, अवाङ्मनसगोचर, अखण्डमंडलाकार परमात्मतत्त्व से है। इस महाकाव्य में लौकिक एवं आध्यात्मिक उपलब्धि की समस्त सामग्री भरी पड़ी है। रामचरितमानस में अद्वैत मत की प्रतिष्ठा बहुत ही महनीय रूप में की गयी है। तुलसी जी की आस्था पारमार्थिक सत्ता में तथा प्रवृत्ति व्यावहारिक भक्ति में थी। जहाँ तक आधिभौतिक विचार धारा का सम्बन्ध है वे शंकराचार्य और बल्लभाचार्य के मध्य स्थित है। तुलसीदास जी भारतवर्ष की दार्शनिक एवं आध्यात्मिक संस्कृति के कवि थे। गोस्वामी जी का यह अप्रतिमग्रन्थ वेद, उपनिषद् गीता, पुराण, तन्त्र आदि समस्त मोक्षधर्मी ग्रन्थों का सार है।

नाना पुराणा निगमागमसम्यतं पद, रामायण नि गदितं क्वदिचन्यतौ पि।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ–गाथा, भाषा निबंधमतिमंजुल–मातनोति।

तुलसीदास जी राम के ब्रह्मरूप को समस्त चराचर जगत् में व्याप्त बताते हैं एवं राम की नरलीला को भक्त के हृदय में शील, शक्ति और सात्त्विकता की परिपूर्ण पारमार्थिकता कहते हैं। दार्शनिक दृष्टि से रामचरितमानस ज्ञान और भक्ति का समन्वय अद्वैत और द्वैत का संगम, निर्गुण और सगुण के समाहार के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। गोस्वामी जी ने ब्रह्म के निर्गुण रूप को सगुण रूप से सरलतर स्वीकार किया है।[1] गोस्वामी जी ने राम को समस्त चराचर जगत, यक्ष–किन्नर, देव–दनुज आदि से उच्च स्थापित किया है। तुलसीदास जी का पक्ष विज्ञानभक्ति (अद्वैत भक्ति) का है उनका मत है कि यह समस्त जगत अविद्याजनित है जब अविद्या का अन्त हो जाता है तभी साधक राम (ब्रह्म) के सच्चे, वास्तविक स्वरूप को जानकर अहंभाव से मुक्ति प्राप्त कर राममय (तद्रूप) हो जाता है।[2] अविद्या के नाश के लिए ही तुलसीदास ने राम कथा का प्रतिपादन किया है।[3] राम (ब्रह्म) वेदों के लिए भी अगम्य है। जो नेति नेति के माध्यम से प्रतिपादित है।[4] वही राम सच्ची भक्ति से सुगम हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि गोस्वामी जी के विचार निगमागम और श्रुति सम्मत होने के कारण दार्शनिकता से परिपूर्ण हैं।[5] राम अनादि, अनन्त, अजन्मा, निर्गुण, निराकार अनघ और अद्वैत है।[6] अब समस्या उत्पन्न होती है कि निर्गुण ब्रह्म उपास्य नहीं हो सकता है, वह मानव प्रज्ञा से सर्वथा परे है।

सगुण ब्रह्म की उपासना की जाती है। सगुण का ही स्मरण और चिन्तन किया जाता है। तर्क की दृष्टि से जीव और ब्रह्म में अभेद भले ही हो किन्तु अनुभव से यह भेद प्रत्यक्षतः सिद्ध है। सम्भवतः शंकराचार्य ने इसीलिए ब्रह्म के द्विविध रूप को स्वीकार किया। एक निर्गुण जो तर्क सम्मत था और दूसरा सगुण जो पूर्णतः व्यावहारिक था। आत्मा ही ब्रह्म है।[7] वह सत्, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है।[8] ब्रह्म विज्ञानरूप और आनन्दस्वरूप है।[9] ब्रह्म का स्वरूप लक्षण भी वास्तविक है जिसके द्वारा सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिसमें स्थित रहते हैं और अन्ततः जिसमें विलीन हो जाते हैं वह ब्रह्म है।[10]

ब्रह्म के निर्गुण रूप के प्राप्त्यर्थ ज्ञान का जो मार्ग था वह अत्यन्त ही कठिन एवं दुरूह था।[11] दूसरी ओर ब्रह्म के सगुण रूप की प्राप्ति के लिए जो भक्ति का मार्ग बतलाया गया है वह अत्यन्त सुलभ और सुखद है। परन्तु तत्त्वतः परमेश्वर के निर्गुण और सगुण रूप में कोई भी अन्तर नहीं है।[12] आचार्य शंकर ने श्रुतितर्क के बल पर निर्गुण निराकार रूप अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन किया है। परन्तु गोस्वामी जी ने श्रद्धा और भक्ति के आश्रय से सगुण रूप भगवान का और आगम निगम के प्रमाणों के बल पर निर्गुण रूप अद्वयतत्त्व का प्रतिपादन किया है। तुलसीदास ने ब्रह्म को सर्वाग्राही बनाने का प्रयत्न किया है इसीलिए सगुण ब्रह्म को जनसामान्य के सम्मुख लाने हेतु प्रयास करते है।[13] ब्रह्म के सगुणरूपराशि का आनन्द योगिजन ले रहे है।[14] इससे ब्रह्म का सर्व व्यापकत्व रूप सिद्ध होता है क्योंकि प्रभु की बाल लीलाओं का साक्षात्कार जगत के समस्त सिद्ध जनों एवं देवगणों को उनके स्थान विशेष (नियत स्थान) पर रहते हुए भी हो रहा है। भक्तों के प्रेमवश निर्गुण ब्रह्म ही सगुण हो जाता है। 'राम' वही निर्गुण ब्रह्म है जो भक्तों को सुख देने के लिए सगुण रूप में अवतरित हुए हैं। गीता में भी उक्त है जब भी धर्म की हानि होती है अधर्म–चरम पर होता है तब साधु पुरूष के उद्धार हेतु वही निर्गुण ब्रह्म ही सगुण रूप धारण करता है।[15] ब्रह्म भक्तों के दुःखप्रशमनार्थ हेतु ही शरीर धारण करता है। उनके प्रकट होने का कारण भक्ति वत्सलता ही है।[16] वस्तुतः गोस्वामी जी के परमतत्व राम वेदान्त में व्याख्यायित ब्रह्म के ही निर्गुण एवं सगुण रूप है। उनके निराकार राम इन्द्रिय होकर भी सेन्द्रिय हैं। वे ज्ञान गिरागोतीत होते हुए भी ज्ञानगम्य तथा वेदान्तवेद्य हैं।[17] तुलसी का ब्रह्म बिना चरणों के चलता है। बिना कानों के सुनता है। मुख बिना ही रसास्वादन करता है।[18] यह निर्गुण ब्रह्मतत्त्व आत्म अनुभवी ज्ञानियों के लिए ही सुलभ हो सकता है। ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही साधक का ब्रह्मैक्य हो जाता है।[19]

दृष्टिगोचर यह समस्त व्यावहारिक चराचर जगत् माया से ही आवृत्त है। माया ही जीव और ब्रह्म में आभासिक या प्रातीतिक भेद उत्पन्न कर देती है। माया के कारण हमारा दृष्टि पथ बाधित हो जाता है और हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ मूलतत्त्व का साक्षात्कार करने में असमर्थ हो जाती हैं जिसके कारण यह आभासिक समस्त चराचर जगत मिथ्या और अपारमार्थिक होते हुए भी पारमार्थिक एवं सत्य प्रतीत होने लगता है। जीव अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान पाने में असक्त हो जाता है तथा इस संसार के आवागमन अर्थात् जरा–मरण के चक्र में फँस कर अनन्त काल तक संसरण करता रहता है। यह ईश्वर और जीव के बीच की स्थिति है।[20] अहंकार ही माया का मूल है। अहं, मम्, त्वम्, इत्यादि भेदों का ज्ञान कराना माया का ही कार्य

है। माया विद्या और अविद्या के भेद से द्विविध है।[21] माया स्वयं मिथ्या है अतः तत्जनित विश्व भी प्रप×च एवं मिथ्या है। राम की माया से ही विश्व और चराचर जगत की उत्पत्ति होती है।[22] तथ्यतः समस्त दृश्यभूत स्थावरज›मात्मक समस्त सृष्टि प्रपंच सब माया ही है। माया ने ही सम्पूर्ण जागतिक प्रपंच को अपने वश में कर रखा है।[23]

माया के कारण ही जीव अपने मूल स्वरूप को भूला रहता है जबकि जीव का सहज स्वरूप सच्चिदानन्द आनन्दघन परमात्मा ही है। ईश्वर जीव के सम्बन्ध विवेचन में गोस्वामी जी ने कहा है कि ब्रह्म मायापति है और जीव माया के वश में है। ब्रह्म को जानते जानते जीव भेद भाव रहित होकर ब्रह्ममय ही हो जाता हैं यही मोक्ष की स्थिति होती है।[24] यह मोक्ष की स्थिति अविद्या निवृत्ति रूप और विशुद्धज्ञानस्वरूप होती हैं। यह स्थिति दुःख तथा सुख दोनों से परे है। यह मोक्ष भी द्विविध व्याख्यायित है 1. जीवन मुक्ति और 2. विदेह मुक्ति। जिस क्षण ब्रह्मज्ञान हो जाये उसी क्षण जीव ब्रह्मवेत्ता एवं जीवन मुक्त हो जाता है। क्योंकि अविद्या के बन्धन में बँधा जीव ही सांसारिक क्लेश पाता है और जन्म–मरण का भागी होता है। इस योगी पुरूष के समस्त कर्म केवल लोक संग्रह के लिए ही होने लगते हैं। क्योंकि आसक्तियुक्त कर्म ही बन्धनकारी और अविद्याजन्य होते हैं। द्वितीय मुक्ति (मोक्ष) है विदेह मुक्ति। यह मुक्ति जीवन मुक्ति के बाद की अवस्था है। जब जीवनमुक्त योगी का शरीरपात् हो जाता है तब उसके समस्त शुभाशुभ कर्म और तद्जन्य संस्कार भी दग्धभूत हो जाते हैं। उस योगी पुरूष का इस लैकिक जगत् में आवागमन का चक्र पूर्णतः नष्ट हो जाता है और वह (राममय) ब्रह्ममय हो जाता है।

अद्वैतमत के अनुसार एकमात्र अद्वयतत्त्व ब्रह्म ही सत् है। उसके अतिरिक्त समस्त प्रतीतिक, व्यावहारिक, लौकिक जगत् मिथ्या मात्र हैं तात्त्विक दृष्टि से गोस्वामी जी ने भी इसी बात का प्रतिपादन किया है।[25] और अद्वैत मत के अनुसार ही समस्त जगत् को ब्रह्ममय स्वीकार किया है। तुलसीदास जी तात्त्विक दृष्टि से अद्वैतमतानुयायी होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि में द्वैत को भी स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार माया रहित ब्रह्म और माया से आवृत्त ब्रह्म में भेद है।[26] तात्पर्य यह है कि दार्शनिक क्षेत्र में तुलसीदास जी का मुख्य प्रयत्न द्वैतवादी और अद्वैतवादी दार्शनिक मतों के बीच समन्वय स्थापित करके दर्शन को व्यावहारिक बनाना था। दार्शनिक प्रवृत्ति का यह व्यावहारिक रूप ही सांस्कृतिक और धार्मिक क्षेत्र का, ज्ञान और भक्ति का समन्वय है। ज्ञान से युक्त भक्ति ही मानव जीवन का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है जिस पर अग्रसर रहते हुए साधक अपने परम गन्तव्य पर पहुँच जाता है।

<u>संदर्भ ग्रन्थ सूची</u> –

1. निर्गुण रूप सुलभ अति सगुन जानि नहि कोई।
   सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होई।। उत्तरकाण्ड–73
2. ब्रह्मवेद्य ब्रह्मैव भवति।
3. भगति करति बिनु जपति प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा ।। (उ0का0 119)
4. नेति नेति
5. यन्माया वशवर्ती विश्वमखिलं ब्रह्मदिदेवासुरा। यत्सत्वादभृषैण भाँति सकलं रज्जो यथोहेभ्रमः।।

यत्पादपत्वमेकमेव हि भवाम्भोधेस्ति तीर्षावतां। वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्।।

6. व्यापक एक ब्रह्म अविनाशी। सत चेतनघन आनन्द राशी।।

7. वृहदारण्यक0 शां0भा0 2/5/19

8. तैत्तिरीयोपनिषद् शां भां 2/2/1

9.

10A. यतों वा इमानि भूतानि जायन्ते। तैत्तिरीय0 शां भां0 2

11. आनन्दाद्वये खाल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयत्यमि भसंविसन्ति (तैत्तिरीय शां भा03/6)

12. ज्ञानपंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होहि नहिं वारा।।
ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका।। साधन कठिन न मन कहु टेका।।(उ0का0 110/11)

13. सगुणहि अगुणहि नही कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा (बालकाण्ड 115 /1)

14. रूप राशि नृप अजिर बिहारी। नाचहि निज प्रतिबिम्ब निहारी।।

15. रेख कुलिश ध्वज अंकुश सोहे। नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे ।

16. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानंमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यह्म
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे–युगे (गीता 4/7, 8)

16A सोई जस गाई भगत भव तरही। कृपा सिन्धु जनहित तनु धरही।। (बालकाण्ड)

B अगुन अलख अलख अज जोई। भगत प्रेम वश सगुन सो होंही।।
हरि व्यापक सर्वत्र सामाना। प्रेम से प्रकट होंहि मैं जाना।।

17. सुख सन्देह मोह पर ज्ञान गीत गोतित। देवति परम प्रेम वश कर सिसुचरित पुनीत।।

18 विनुपद चले सुनै विनुकाना, कर विनु कर्म करै विधि नाना।
आनन रहित, सकल रसभोगी, बिनुबाणी बकता वड़ जोगी।।
तनु बिनु, परस नयन बिनु देखा गहै ध्यान बिन बास विशेषा।
अस सब भाँति अलौकिक करनी, महिमा जासुजाई नहीं बरनी।

19. ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति।। जानति तुम्हहि तुम्हहि होई जाई।।

20A उभय बीच श्री सोहई कैसी। ब्रह्म जीव बीच माया जैसी।।

B मैं अरू मोर तोर तै माया। जेहि बसि किन्हे जीव निकाया।।

C मम माया संभव संसारा। जीव चराचर विविधि प्रकारा।।

D माया वश स्वरूप विसरायों। तेहि भ्रम ते दारूण दुःख पायों।।

21 तेहि कर भेद सुनउ तुम्ह सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ।। (अरण्यकाण्ड)

22 मम माया संभव संसारा। जीव चराचर विविध प्रकारा।।

23 माया ईस न आपु कहुँ जान कहिय सो जीव। बंध मोच्छ प्रद सर्व पर माया प्रेरक सीव।।

23 ब्रह्मभावश्च मोक्षः।।

24A यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा, यत्सत्वादममषैव भांति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लर्वमेकमेव हि भवांभोधेस्ति तीषवितां, वंदेहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिं।।

B जड़ चेतन जग जीव जन, सकल राममय जानि।
बन्दौ सबके पदकमल सदा जोरि जुगपानि।। (रामचरितमानव 1/8/1)

25 ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखराशी।।
सो मायावश भयऊ गोसाई। बंध्यों कीरमरकट की नाई।।

वैदिक साहित्य में यज्ञ

डॉ0 मनोज कुमार अग्रहरि

प्रवक्ता
जय नारायण चमेला देवी महाविद्यालय,
करछना, इलाहाबाद

वैदिक आर्यों की एक धर्म प्रधान परम्परा थी। उनका देवताओं की सत्ता, प्रभाव तथा व्यापकता में दृढ़ विश्वास था। समाज में धर्म उतना ही प्राचीन है, जितना मानव का सृजन। मानव विचारणा शक्ति से सम्पन्न उत्पन्न हुआ है। यह विचारणा शक्ति बौद्धिक चेतना व ज्ञान ही है। इसी विचारणा शक्ति के साथ धर्म भी उत्पन्न हुआ। वैदिक कालीन धर्म का जन्म प्रकृति की महाशक्तियों के संचालक नियमों को दैनन्दिन व्यवहार में प्रयुक्त करने के साथ–साथ धर्म का उत्तरोत्तर विकास हुआ। इसीलिये ऋग्वेद में 'धर्म' शब्द का अर्थ 'जगन्निर्वाहक नियमों का समूह' है– **''यज्ञेन यज्ञमजयन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्''।**[1]

धर्म वह मूलभूत सिद्धान्त है, जिस पर मानव समाज आधृत रहता है। व्यवहार जगत् में धर्म व्यक्ति (जीवात्मा) का स्वेच्छया अंगीकृत एक मार्ग है, जीवन पद्धति है।[2] प्रत्येक व्यक्ति को अपना धर्म प्रिय होता है तथा जीवन का वह अविभाज्य अंग बन जाता है। इसीलिये यह एक सर्वमान्य नियम है कि एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के धर्म में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। ब्राह्मणों में धर्म को सामान्यतया वरुण से सम्बद्ध प्रदर्शित किया गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में ऋत् (जगत् विषयक शाश्वत नियम) के व्यवस्थापक वरुण है, इसलिए देवता 'वरुण' को 'धर्मपति' विशेषण द्वारा अभिहित किया गया है– ''वरुण धर्मणां पते''।[3] तैत्तिरीय ब्राह्मण में धर्म के सिद्धान्त पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि सविता, इन्द्र तथा मित्र को सत्य कहा गया है जबकि वरुण को 'सत्यानृत' कहा गया है– ''सत्यमेता देवताः (सविता इन्द्रः मित्रः)। ....सत्यान्नृते वरुणः।[4] चूँकि वरुण धर्म का प्रतीक है; इसलिए धर्म भी सत्यानृत है। तीन सत्यदेवों के प्रशस्त मार्ग ब्राह्मणों में निर्धारित किये गये हैं। इस निर्धारण में किसी अन्य विकल्प की गुंजाइश नहीं छोड़ी गयी है। धर्म अथवा वरुण को ठोस व्यवहार की भूमि पर खड़ा किया गया है। धर्म को अंगुल्या निर्देश द्वारा परिभाषित नहीं किया जा सकता। कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता है कि 'यह धर्म है' अथवा 'यह धर्म नहीं है'।[5] धर्म एक सापेक्ष शब्द है तथा मूलतः एक व्यक्ति विशेष की रूचि एवं स्वभाव से सम्बद्ध होता है। एक व्यक्ति का धर्म दूसरे व्यक्ति के धर्म से नितान्त भिन्न हो सकता है। समानधर्मा व्यक्तियों के वर्ग या समूह के आदर्श कर्म ही परिस्थिति–विशेष में जन सामान्य के लिए 'मानक' बन जाते हैं। यही मानक उस वर्ग या समूह विशेष के लिए धर्म बन जाता है।

धर्म प्रत्येक संस्कृति का अंग है। विश्व के किसी भी धर्म के दो पक्ष होते हैं। प्रथम तत्त्व चिंतन तथा द्वितीय कर्मकाण्ड, धर्म के ये दोनों पहलू समरूपेण महत्त्वपूर्ण हैं।

ब्राह्मण साहित्य में प्रतिष्ठापित धर्म यज्ञ–परक धर्म है। यज्ञ उस नियामक शक्ति, जिसे आर्यों ने 'ऋत' कहा है, का रूपान्तर मात्र है। यह वैदिक जीवन एवं वैदिक साहित्य का अविभाज्य अंग है। वैदिक ऋषियों की सम्पूर्ण जीवन–चर्या यज्ञकर्म से अनुप्राणित थी। इसीलिए यज्ञमय जीवन की अपनी विशिष्ट संस्कृति रही है। 'यज्ञ' शब्द 'यज्' धातु से बना है, जिसका अर्थ पूजा अथवा किसी देवता को उपहार (भेंट) चढ़ाना है।

प्रो0 आर0 डी0 करमरकर के अनुसार 'यज्ञ' शब्द दो धातुओं से बना है– 'या' और 'यज्'। जहाँ 'या' का अर्थ, 'जाना' एवं 'मिलना उत्पन्न करना' हैं तथा 'धातु पाठ में' 'यज्' का अर्थ, 'देव पूजन करना', 'संगतिकरण–परस्पर मिलना', तथा 'दान' हैं– ''यज् देवपूजासंगतिकरण दानेषु''। यह अपवाद रहित है कि 'यज्' धातु और 'या' धातु से बना शब्द पूजा–अर्चना के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। अतएव प्रो0 करमरकर द्वारा 'यज्' धातु का अर्थ बहुत परोक्ष एवं खींचतान कर निकाला हुआ लगता है। डॉ0 बुध प्रकाश के मतानुसार एक सामाजिक वैज्ञानिक की दृष्टि से 'यज्ञ' का अर्थ 'आम बिरादरी का भोज' है; जिसे 'संगतिकरण' भी कहते हैं। 'यज्ञ' शब्द के अर्थ में देवता के प्रति श्रद्धा का भाव प्रकाशन भिन्न–भिन्न ढंग से सम्मिलित मिलता है। इसी आधार पर शास्त्रों का अध्ययन चिन्तन अथवा स्वाध्याय भी 'यज्ञ' कहलाता है। सामान्यतया अग्नी को दी गई भेंट अथवा देवता को उद्देश्य कर अग्नि के माध्यम से किया गया दान यज्ञ कहलाता है। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि भक्त का श्रद्धाभाव 'यज्ञ' या 'याग' कहलाता है। उदाहरणार्थ, जैसे ही भक्त स्वयं अथवा किसी पदार्थ को देवता के निमित्त दान (भेंट) में देता है, उसी क्षण वह यज्ञ सम्पादित कर लेता हैं कहने का तात्पर्य यह है कि यज्ञ सदा किसी बहुमूल्य द्रव्य (वस्तु) का त्याग (दान) है। जिस वस्तु का त्याग किया जाय, उसे 'हविष्' कहते हैं। देवता को उद्देश्य मानकर द्रव्य त्याग 'याग' या 'होम' कहलाता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ के उद्भव एवं प्रयोजन पर विशद विवेचन मिलता है। तै0ब्रा0 में उल्लेख मिलता है कि देवासुर संग्राम में असुरों को पराजित करने के बाद स्वर्ग में देवतागण में भुखमरी फैल गयी। उन्होंने पृथ्वी मण्डल से आहार ग्रहण कर जीने का निर्णय लिया। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उन्होंने सप्त होतृ यज्ञ का विधान बनाया एवं अयास्य अंगीरस को यज्ञ सम्पादन हेतु भेजा। इस प्रकार पृथ्वी–मण्डल पर यज्ञ का पदार्पण हुआ,– ''ते (देवाः) अमुष्मिन् लोके व्यक्षुध्यन्। तेऽब्रुवन्। अमुतः प्रदानं वा उपजीविमेति। ते सप्तहोतारं यज्ञं विधायावास्यंम्। आंगीरसं प्राहिण्वन्। एतेनामुत्र कल्पयेति। तस्या वा इयं क्लृप्तिः। यदिदं कि◈च।''[6] एक अन्य सन्दर्भ से विदित होता है कि देवतागण ने पृथु को यज्ञ प्रदान किया, ''यो वै, सोमेन सूयते स देवसवः। य पशुना सूयते। स देवसवः। यः इष्ट्या सूयते। स मनुष्यसवः। एतं वै पृथये देवाः प्रायच्छन्।''[7] तैत्तिरीय ब्राह्मण में ही एक प्रसंग में यह भी मिलता है कि प्रजापति ने सर्वप्रथम यज्ञ को देखा और उसे देवों के पास भेज दिया।[8]

(i) यज्ञ का प्रयोजन (उद्देश्य):– वैदिक काल में मानव जीवन में यज्ञों का बहुत महत्त्व था। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञों के विषय में अति–अधिक वर्णन हुआ है। यह प्रकृति और परमेश्वर के प्रति अपनी कर्तव्यनिष्ठा की सच्ची अभिव्यक्ति है। यह सृष्टि के क्रम का भी एक सच्ची

गाथा है। किन्तु इसका मूलभूत उद्देश्य धरती पर मानव–जीवन को सुखमय एवं कल्याणमय बनाना था। मानव–जीवन का सुख एवं कल्याण भौतिक सम्पत्ति के उचित वितरण एवं स्वामित्व पर निर्भर था। भौतिक सम्पदा मनुष्य के मात्र निजी ऐन्द्रिक सुख के लिए ही नहीं थी। उसका सम्पूर्ण मानव समाज में न्यायिक वितरण आवश्यक था। इस प्रयोजन की पूर्ति की दिशा में जीवन के दृश्य एवं परोक्ष सभी अंगों एवं क्षेत्रों में यज्ञ कर्म समतुल्यता लाने के निमित्त आरम्भ किया गया। डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल का यह मत है कि प्राचीन भारतीय वैदिक समाज में यज्ञ का प्रयोजन प्रकृति को मित्र बनाकर प्रसन्न रखना था, क्योंकि मानव का समस्त भौतिक सुख प्रकृति की विभिन्न शक्तियों से मैत्री होने पर ही सम्भव था। यह बड़ी ही व्यापक एवं महत्त्वपूर्ण आस्था थी, जो सदा हमारी प्राचीन संस्कृति की मूल में रही हैं।

अग्निहोत्र सम्पादित कर मनुष्य देवताओं के निमित्त अपनी आहुति देता है जिससे देवता मनुष्य पर प्रसन्न होते हैं, यह निश्चित है। यज्ञ करने से मनुष्य समस्त भौतिक शक्तियों एवं पदार्थों को विधिवत् समझने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। यज्ञाचरण से ही उसे उस मानसिक चिंतन हेतु पात्रता एवं सामर्थ्य प्राप्त होता है; जिससे उसको प्राकृतिक शक्तियों का पारस्परिक ज्ञान मिलता है। इस ज्ञान को प्राप्त कर ही मनुष्य परमसुख की स्थिति (स्वर्ग) प्राप्त कर सकता है। यज्ञ सम्पादन से मनुष्य को वाह्य भौतिक सुख, जैसे–पुत्र–पौत्र, पशु एवं सम्पत्ति आदि की प्राप्ति एवं उनकी अभिवृद्धि होती है, साथ ही आध्यात्मिक क्षेत्र में उसे तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है। वैदिक परम्परानुसार यही यज्ञों का फल है,– ''सर्वाभ्यौ वा एस देवताभ्यो जुहोति। योऽग्निहोत्रं जुहोति। यथा खलु वै धेनुं तीर्थे तर्पयति। एवग्निहोत्री यजमानंतर्पयति तृप्यति प्रजया पशुभिः। प्र सुवर्गलोकं जानाति। पश्यति पुत्रं। पश्यति पौत्रम् प्रजया पशुभिर्मिथुनैर्जायते।''[9]

(ii) यज्ञ के स्थलः– ब्राह्मण ग्रन्थों में देवयजन के लिए यज्ञ–भूमि पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार भूमि के ऊपरी भाग को खनन कार्य द्वारा हटा लेना चाहिए। ताकि थूक आदि से अपवित्र भू–भाग खनन द्वारा हट जाये। उस समय 'उद्धन्यमानम्' इस मन्त्र का जाप किया जाता है।[10] ऐसी मान्यता है कि खनन कार्य से भूमि को कुछ वेदना सहनी पड़ती है; अतः उसे शान्त करने के लिए शांति के प्रतीक जल से प्रयोग करते हुए ''आपो वै शान्ताः'' नामक मन्त्र का उच्चारण किया जाता है।[11]

(iii) यज्ञ–भूमि का आयतनः– तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार गार्हपत्य द्वादश प्रक्रम का होना चाहिए। ऐसा इसलिए, क्योंकि संवत्सर में बारह माह होते हैं। गार्हपत्य से द्वादश प्रक्रम के समाप्त होने पर आहवनीय का आयतन बनाना चाहिए। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण का आहवनीय एकादश प्रक्रम, क्षत्रियों का द्वादश प्रक्रम और वैश्यों का चतुर्विंशति प्रक्रम होना चाहिए,– ''ब्राह्मणस्याऽऽहवनीयायतनमेकादशसु राजन्यस्य द्वादशसु वैश्यस्य चतुर्विंशत्यामपरिमिते वा यावता वा चक्षुषा मन्यते– तस्मान्नातिदूरमाधेय इति सर्वेषामविशेषण श्रुयते''।[12] प्रक्रम का तात्पर्य 2 पग या 3 पग होता है,– ''प्रक्रमो द्विपदस्त्रिपदो वा''।[13] इसको विक्रम भी कहा जाता है,– ''विक्रामः प्रक्रमः''।

(iv) यज्ञ का समयः– यज्ञ का सद्फल उसके समय पर आश्रित होता है, जिसका ब्राह्मण ग्रन्थों में पर्याप्त उल्लेख मिलता है। तै0ब्रा0 के अनुसार रात्रि में गार्हपत्याग्नि का आधान करने से पशु और दिन में आहवनीयाग्नि का आधान करने से इन्द्रियों का तेज प्राप्त होता है। इसके साथ ही साथ प्रातःकाल में आहवनीयाग्नि का आधान करने से यजमान के प्रजनन–सामर्थ्य की बृद्धि होती है, और अतीत व भविष्य का फल मिलता है।[14]

आहवनीयाग्नि आदि अग्नियों का क्रम उल्लेख करते हुए कहा गया हैं कि गार्हपत्याग्नि का आधान पूर्व दिशा की ओर किया जाता है; क्योंकि ऐसा करने से श्री (लक्ष्मी) पूर्व दिशा की ओर चली जाती है अर्थात् यजमान धन–वैभव से युक्त हो जाता है। देवतागण भी गार्हपत्याग्नि का आधान पूर्व की ओर मुख करके करने से स्वर्गलोक को प्राप्त किया था। इसलिए आधान के समय यजमान को पूर्व दिशा की ओर मुख करके ही गार्हपत्याग्नि में अग्न्याधान करना चाहिए। इससे यजमान प्रजा, पशु और स्वामित्व भी प्राप्त करता है,– ''गार्हपत्यस्य प्रजापशुस्वामित्वात्तस्य प्रथमाधानेन तत्प्राप्तिः''।[15]

आहवनीयाग्नि का आधान पश्चिम की ओर मुख करके करना चाहिए। इससे यजमान को सुख–समृद्धि और यश की प्राप्ति होती है; किन्तु यदि आहवनीय अग्नि का आधान पूर्व की ओर मुख करके किया जाय, तो स्वर्ग की प्राप्ति होती है, लेकिन वह क्षणिक होता है। एक प्रसिद्धी है कि, किसी समय इड़ा नामक गो–रूप में कोई देवी थी। वह मनु की संबंधी थी। वह ईड़ा यज्ञ–तत्त्व के विषय में कुछ नहीं जानती थी। उसी समय असुरों ने अग्न्याधान शुरू किया। यह सुनकर ईड़ा उनके यज्ञीय कर्मकाण्ड को देखने चली गयी। तत्पश्चात् मनु के पास वापस आकर बोली कि असुरों ने पहले पूर्व दिशा की ओर अवस्थित होकर आहवनीय यज्ञ करते हैं, तत्पश्चात् पश्चिम दिशा में अवस्थित होकर गार्हपत्य यज्ञ करते हैं। उसके बाद दक्षिण दिशा में दक्षिणाग्नि यज्ञ करते हैं। ऐसा करने से कुछ समय तक वे धन–वैभव से युक्त रहते हैं; तत्त्पश्चात् विनाश को प्राप्त करते हैं। पश्चिम की ओर मुख करके अग्न्याधान करने से श्री भी चली जाती है; जिसके फलस्वरूप असुर पराभव को प्राप्त करते हैं।[16]

जहाँ तक दक्षिणाग्नि का प्रश्न है तो यह गार्हपत्य के दक्षिण दिशा में स्थित है। दक्षिणाग्नि तिरछा होता है, जिससे कि यह ऊपर की ओर नहीं जा सकता, बल्कि मर्त्यलोक में ही अवस्थित रहता है। तैतिरीय ब्राहमण में कुछ विशेष नक्षत्रों में ही अग्न्याधान करने को कहा गया है; जो इस प्रकार है :–

कृत्तिका नक्षत्रः– तैत्तिरीय ब्राहमण के अनुसार जिस दिन कृत्तिका नक्षत्र का चन्द्रमा से संयोग होता है, उस दिन अग्न्याधान करना चाहिए। कृत्तिका नक्षत्र में अग्नी देवता का आधान कल्याणकारी होता है, इसलिए इस नक्षत्र को अग्नि देवता भी कहा जाता है– ''कृत्तिकनक्षत्रमग्निर्देवता''।[17] इस नक्षत्र में अग्न्याधान करने से यजमान 'ब्रहमवर्चस्व' को प्राप्त करता है अर्थात् मन्त्रों का अधिष्ठाता बनता है। चूँकि यह नक्षत्र सभी नक्षत्रों में मुख्य होता है, इसलिए यजमान स्वयं सभी मनुष्यों में मुख्य बन जाता है–

''मुखं वा एतन्नक्षत्राणां। यत्कृत्तिकाः। यः कृत्तिकास्वग्निमाधत्ते। मुख्यं एवं भवति, इति।''[18]

परन्तु कृत्तिका नक्षत्र ही अग्नि देवता है, इस बात को न जानने वाला जो इस नक्षत्र की निन्दा करता है और अनभिज्ञ होकर अग्न्याधान करता है; उस यजमान का घर अग्नि की ज्वाला से तहस–नहस हो जाता है।

रोहिणी नक्षत्र– तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार रोहिणी नक्षत्र कामनाओं की पूर्ति कराता है– ''रूह्यन्ते प्राप्यन्त इति रोहाः कामास्ते च यस्यां रूह्यन्ते सा रोहिणी''।[19] रोहिणी नक्षत्र में अग्न्याधान कर्म करने से यजमान समृद्ध हो जाता है और दिन–प्रतिदिन वह लाभान्वित होता रहता है।

पुनर्वसू नक्षत्रः– पुनर्वसू नक्षत्र में खोये हुए धन को पुनः प्राप्त किया जा सकता है, इसलिए इस नक्षत्र का नाम पुनर्वसू नक्षत्र है।[20] एक प्रसिद्धि है कि किसी समय देवतागण धनसम्पन्न होकर अग्न्याधान कर्म करते समय किंचित श्रद्धारहित हो गये थे। इसलिए उनका यज्ञ विफल हो गया और वे मुक्तादि धन से रहित हो गये। तब वे देवतागण श्रद्धालु होकर पुनर्वसू नक्षत्र में (विशिष्ट तारका युगल जिस दिन चन्द्रमा के साथ संयुक्त हुये, उस दिन) सम्यक् रूप से देवताओं ने अग्न्याधान किया। इस प्रकार सम्यक् रूप से अग्न्याधान करने पर उन्हें पुनः वसु यानी धन प्राप्त हो गया था। इसी प्रकार अन्य धनी भी अश्रद्धा में अग्न्याधान करके जब निर्धन हो गये, तो उन्होंने भी पुर्नवसू नक्षत्र में अग्न्याधान करके पुनः धन प्राप्त कर लिया। इस प्रकार पुनर्वसू नक्षत्र में अग्न्याधान करने से यजमान कल्याणकारी, श्रेष्ठ और कुलीन बन जाते हैं।

रोहिणी और पुनर्वसू नक्षत्र, दोनो ही समृद्धि के प्रतीक है। दोनों ही नक्षत्रों में यजमान द्वारा अग्न्याधान करने से यजमान धन–वैभव से युक्त हो जाता है। अतः यह कहना अनुचित नहीं होगा कि दोनो नक्षत्र संभवतः एक ही है।

पूर्व फाल्गुनी नक्षत्रः– तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार, जो यजमान प्रजा द्वारा धन–धान्यादि चाहते हैं, उन्हें पूर्व फाल्गुनी नक्षत्र में अग्न्याधान करना चाहिए। यह नक्षत्र अर्यमा देवता का प्रतीक है– ''फाल्गुनी नक्षत्रमर्यमा देवता''।[21] अर्यमा (सूर्य) के विषय में वेदों में कहा गया है कि, जो शत्रुओं का दमन करता है और धन द्वारा लोगों को वश में करता है, वही आर्यमा देवता है।[22]

उत्तर फाल्गुनी नक्षत्रः– तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार, जो यजमान ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य, इन छः गुणों को प्राप्त करना चाहता है, उसे उत्तर फाल्गुनी नक्षत्र में अग्न्याधान करना चाहिए। इस नक्षत्र का देवता 'भग'[23] होता है, जिसके द्वारा ऐश्वर्यादि छः गुणों की प्राप्ति होती है– **''ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।**

ज्ञानवैराग्ययोऽैव षण्णां भग इतीरणा।।''[24] इति

फाल्गुनी मास में जब पूर्णिमा आती है, उस समय पूर्व फाल्गुनी नक्षत्र युक्त रात्रि में पूर्ववर्ती वर्ष की समाप्ति होती है; इसलिए उस दिन अग्न्याधान करने से वर्ष का अन्त होने के कारण यजमान दरिद्र हो जाता हैं। परन्तु उत्तर फाल्गुनी नक्षत्र का आरम्भ होने के कारण भावी वर्ष का प्रारम्भ होता है; इसलिए इस समय अग्न्याधान करने से यजमान अत्यधिक धनी हो जाता है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में नक्षत्रों के विधान के साथ–साथ ऋतुओं पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इसके अनुसार, ब्राह्मण को बसंत ऋतु में अग्न्याधान करना चाहिए; क्योंकि बसंत ऋतु सभी ऋतुओं में मुख्य होता है। इसलिए इस ऋतु में अग्न्याधान द्वारा ब्राह्मण भी मुख्य होता है और ब्रह्म वर्चस्व प्राप्त करता है। इसके साथ ही साथ यजमान में प्रजनन सामर्थ्य की बुद्धि होती है। ठीक उसी प्रकार जैसे स्त्रियों की ऋतु विशेष में मनुष्य प्रजनन सामर्थ्य प्राप्त करता है।

इसी प्रकार क्षत्रियों को इन्द्रिय बल शक्ति प्राप्त करने के लिए ग्रीष्म ऋतु में और वैश्यों को धन–वैभव और पशु आदि की प्राप्ति के लिए शरद् ऋतु में अग्न्याधान करना चाहिए। जैसा कि कहा गया है कि–

''बसन्ता ब्राह्मणोऽग्नि। वसन्तो वै ब्राह्मणस्यर्तुः। स्व एवैनमृतावाधाय। ब्रह्मवर्चसी भवति। मुखं वा एतद् ऋतूनाम। यद्वमन्तः। यो वसन्ताऽग्निमाधत्ते। मुख्य एवं भवति। अथो योनिमन्तमेवैनं प्रजातमाधत्ते। ग्रीष्मे राजन्य आदधीत। ग्रीष्मो वै राजन्यस्यर्तुः। स्व एवैनमृतावाधाय। इन्द्रियावी भवति। शरदि वैश्य आदधीत। शरद्वै वैश्यस्यर्तुः। एव एवेनमृतावाधाय। पशुमान्भवति, इति।''[25]

(v) यज्ञ की विधाएँः– यज्ञ में मुख्य मृत्य होम होता है। जिस पर यज्ञों का वर्गीकरण निर्भर करता है। प्रमुख रूप से यज्ञ की तीन विधाएँ हैं, (1) इष्टि, (2) पशुबन्ध तथा (3) सौमिक। इष्टि में पुरोडाश की आहुति दी जाती है। पशुबन्ध में पशु तथा सौमिक में सोमरस की प्रमुख आहुतियाँ दी जाती है। इसमें सामान्यतः हविर्यज्ञ अथवा इष्टि एवं सोम–अध्वर में भेद किया जाता है– ''चत्वारो ह्येते हविर्यज्ञस्यर्त्विजः। ब्रह्मा होताऽध्वर्युरग्नीत्। तमभिमृशेत्। इदं ब्राह्मणः। इदं होतुः। इदमध्वर्योः। इदमग्नीध इति। यथैवादस्त्यौम्येध्वरे''।[26] तैत्तिरीय ब्राह्मण में यज्ञों को देवसव एवं मनुष्यसव के अन्तर्गत विभाजित किया गया है। सोम एवं पशुबन्ध यज्ञ देवसव की श्रेणी में तथा इष्टि यज्ञ को मनुष्यसव की श्रेणी में रखा गया है– ''यो वै सोमेनं सूयते स देवसवः। यः पशुना सूयते स देवसवः। यः इष्ट्या सूयते स मनुष्यसवः। एवं वै पृथये देवाः प्रायच्छन्।''[27]

ऐतरेय आरण्यक के अनुसार, यज्ञ पाँच प्रकार का होता है– अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु तथा सोम। गौतम धर्म सूत्र में यज्ञों को प्रदान किये जाने वाले हविषों के आधार पर समस्त यज्ञों को निम्नांकित तीन वर्गों में विभाजित किया गया है–

(1) पाक–यज्ञ संस्थाः– इस संस्था के अन्तर्गत आग्रहायणी, शूलगव, अष्टका, पार्वण, श्राद्ध श्रावणी तथा आश्वयुजी यज्ञ आते हैं।

(2) हविर्यज्ञ संस्थाः– इसके अन्तर्गत अग्न्याध्येय, अग्निहोत्री, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरूढ़–पशुबन्ध तथा सौत्रामणि यज्ञ आते हैं।

(3) सोम संस्थाः– अग्निष्टोम, अत्यग्निष्येम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र तथा आप्तोर्याम यज्ञ इसके अन्तर्गत आते हैं।

उपर्युक्त प्रथम वर्ग के यज्ञ गृह्य यज्ञों के अन्तर्गत हैं। गृह्य यज्ञ तथा श्रौतयज्ञ में मौलिक भेद यह है कि, गृह्य यज्ञ यजमान तथा उसकी पत्नी के बिना किसी ऋत्विज् के द्वारा

गार्हपत्य अग्नि में सम्पादित किया जाता है, जबकि श्रौत–यज्ञ यजमान और उसकी पत्नी द्वारा ऋत्विजों की सहायता से गार्हपत्य, आहवनीय तथा दक्षिण अग्नि में सम्पादित किया जाता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची –

1. ऋ0 1.164.50; त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः अतो धर्माणि धारयन्। ऋ0 1.22.18
2. यदेकस्याधि धर्माणि। तस्यावयजनमसि। तै0ब्रा0 2.6.6.2
3. तै0ब्रा0 1.7.10.2–4, 3.11.4.1
4. तै0ब्रा0 1.7.10.1
5. न धर्माधर्मौ चरतः आवस्व इति। न देवगन्धर्वा न पितर इत्याचक्षतेऽयं धर्मोऽयमधर्म इति। आपस्तम्ब धर्मसूत्रम्, 1.20.6, आ0प0 मंजरी, पृ0 2
6. तै0ब्रा0 2.2.7.3–4
7. तै0ब्रा0 2.7.5.1
8. 'प्रजापतिरकामयत। दर्शपूर्णमासौ सृजेयेति। स एवं चतुर्होतारमपश्यत्। तं मनसाऽनुद्रुत्या हवनीयेऽजुहोत्। ततोवै स दर्शपूर्णमासावसृजततापस्मात्सृष्टावया क्रामताम्। तैः ग्रहेणागृहणात्।..... सौम्यमध्वरमसृजत।' तै0ब्रा0 2.2.2.1–4; प्रजापतिः देवेभ्यो यज्ञान् व्यादिशत्। तै0ब्रा0 1.3.2.5
9. तै0ब्रा0 2.1.8.3
10. तै0ब्रा0 1.1.3
11. तै0ब्रा0 1.1.3
12. तै0 ब्रा0 1.1.4.23
13. तै0 ब्रा0 1.1.4.23
14. अर्धोदिते सूर्य आहवनीयभादधाति। एतस्मिन्वै लोके प्रजापतिः प्रजा असृजत। प्रजा एव तद्यजमानः सृजते। अथो श्रूतं चैव भविष्यच्चावरून्द्धे, इति। तै0 ब्रा0 1.1.4.25
15. तै0ब्रा0 1.1.4.27
16. इडा वै मानवी यज्ञानुकाशिन्यासीत्। साऽशुणोत्। असुरा अग्रिमादधत इति। तदगच्छत्। त आहवनीयमग्र आदधत। अथ गार्हपत्यम्। अथान्वाहार्यपचनम्। साऽब्रवीत। प्रतीच्येषां श्रीरगात्। श्रद्धा श्रूत्वा पराभविष्यन्तीति। यस्यैवमग्निराधीयते। प्रतीच्यस्य श्रीरेति। भद्रा भूत्वा पराभवति इति। तै0ब्रा0 1.1.4.25
17. तै0ब्रा0 1.1.2.7
18. तै0ब्रा0 1.1.2.7
19. तै0ब्रा0 1.1.2.8
20. पुनरपि वसु लभ्यते ययोस्तौ पुनर्वसु। तै0ब्रा0 1.1.2.9
21. तै0ब्रा0 1.1.2.9
22. अरीन्यमयति धनदानेन वशी करोतीत्यर्यमा धनस्य दाता। तै0ब्रा0 1.1.2.9
23. फल्गुनी नक्षत्रं भगो देवता। तै0ब्रा0 1.1.2.10
24. तै0 ब्रा0 1.1.2.9
25. तै0ब्रा0 1.1.2.10
26. तै0ब्रा0 3.3.8.7–8
27. तै0ब्रा0 2.7.5.1

कबीर की आध्यात्मिक वैयक्तिकता

संतोष सिंह,

असि0 प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
नेहरू ग्राम भारती विश्वविद्यालय,इलाहाबाद।

भक्ति का अविर्भाव हिन्दू धर्म के मूल–ग्रन्थ वेदों से हुआ। किन्तु वैदिक भक्ति प्रायः देवभक्ति होने के कारण भागवत भक्ति की विस्तृत भूमिका आरम्भ नही कर सकी। दूसरे कर्मकांडों से जुड़ी होने के कारण यह साधना के आडम्बर से अत्यधिक जुड़ गयी। अतः उसके साध्य का पथ अवरूद्ध हो गया। डॉ0 पारसनाथ तिवारी ने ''वैदिक भक्ति को साधन–रूपा मानकर उसे साध्य रूपा होने से अस्वीकार किया है।''[1]

भक्ति का मूलतः आरम्भ भागवत् धर्म में प्राप्त होता है। भागवत धर्मों का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम 'महाभारत' के शान्ति पर्व में नर–नारायण नामक दो ऋषियों से हुआ। उत्तर भारत में पल्लवित होती हुई यह धारा दक्षिण के आलवर सन्तों तक पहुँच गयी। नवीं–शताब्दी में तमिल प्रदेश में इस धारा का प्रभाव आचार्यों द्वारा और भी विकसित हुआ। यह धारा आचार्य शंकर के अद्वैतवाद के विरूद्ध फलीभूत होती गयी। परिणामतः यमुनाचार्य से होती हुई रामानुजाचार्य तक उसने अपने विशिष्ट सिद्धान्तों से इस धारा को पुष्ट किया।

''कालान्तर में विदेशों से आने वाले धर्म सम्प्रदाय भी भागवत धर्म के प्रेम–तत्व से प्रभावित हुए। और इस तरह बारहवीं–शताब्दी तक भक्ति आन्दोलन पूर्णतः प्रौढ़ होकर पुनः उत्तर की ओर अग्रसर हुआ। महाराष्ट्र में आकर नाथपंथी योगियों और उत्तर भारत में रामानन्द के प्रभाव से यह धारा बंगाल, असम, पंजाब और गुजरात तक पूर्णतया फैल गयी। यहाँ तक आते–आते हिन्दी भाषा की स्वतन्त्रता सत्ता, अपभ्रंश से निर्मित हो गयी थी। परिमाणतः निर्गुण–सम्प्रदाय में आदि कवि 'कबीर' में इस धारा की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति मुखर हुई।''[2] इस तरह कबीर की रचनाओं में भक्ति का जो व्यापक पक्ष मिलता है, उसका आदि सुत्र भागवत धर्म के रूप में एक लम्बी परम्परा होकर, अनवरत, गतिशील रहा। कबीर के भीतर उनके विशेष तर्को के आधार पर यह भक्ति और भी सघन एवं सार्थक हुई।

विद्वानों ने कबीर की भक्ति को वैष्णव भक्ति की पहचान दी है। डॉ0 भोलानाथ तिवारी का कथन है कि वैष्णवी भक्ति में आज शांडिल्य, अंगिरा तथा नारद के सूत्र उपलब्ध हैं। उनमें से नारदी भक्ति दक्षिणी भारत में प्रचलित होकर, उत्तर भारत तक जा पहुँची। अतः मध्ययुगीन भक्ति को नारदी भक्ति कहना ही उचित होगा। इस तरह कबीर की भक्ति को उन्होंने नारदी भक्ति तो कहा ही, साथ ही उन्होंने कबीर का एक पद भी साक्ष्य के रूप में उद्धृत किया है। ''भक्ति द्राविण उपजी लाए रामानन्द, परगट किया कबीर ने सप्त दीप नवखंड।''[3]

इसी तरह डॉ0 रामचन्द्र तिवारी, डॉ0 पारसनाथ तिवारी आदि अनेक विद्वानों ने कबीर की भक्ति को 'नारदी भक्ति' से जोड़कर देखा है। नारदी भक्ति या वैष्णवी भक्ति के मूल स्रोतों के साथ कबीर भक्ति का सामंजस्य करना समीचीन होगा। नारद के अनुसार 'भक्ति' ईश्वर के प्रति अर्पित कर देना और उसके विस्मरण की स्थिति में अत्यन्त व्याकुलता का अनुभव करना ही भक्ति का लक्षण है।

कबीर का प्रभु निर्गुण होते हुए भी गुणों के बाहुल्य का भंडार है। वह जिह्वा और लेखनी की शक्ति से परे हैं। फिर भी वे अपने परम तत्व का गायन करते हैं। इस प्रक्रिया में उनकी विरहानुभूति और प्रबल हो उठती है। उनका प्रभु भक्तो के लिए वह सार तत्व है, जिसका स्मरण मात्र ही आश्चर्य जनक सुखों का द्योतक है। कबीर उस परम तत्व का दर्शन प्रत्येक स्थान पर करते हैं तथा उसके भीतर स्वयं को डूबो देने की बात स्वीकार करते हैं। उसके लिए सांसारिक पूजा की आवश्यकता नही है बल्कि उसके लिए ज्ञान की पूजी ही पर्याप्त है। कबीर का ब्रह्म क्योंकि रूप से परे निर्गुण हैं। अतः रूपा शक्ति सगुण भक्त कवियों की तरह उनमें प्राप्त नहीं। उनका ब्रह्म तो सहज तेज के स्वरूप के प्रति आकर्षण पैदा करता है। वह परमतत्व की सेवा के अतिरिक्त सांसारिक उपलब्धियों को तुच्छ मानते हैं। और उस अव्यक्त की सेवा में दास की भूमिका निभाते हैं।

कबीर ने अपनी भक्ति के व्यापक सूत्र पुराणों एवं प्राचीन ग्रन्थों से अवश्य लिये हैं, तो क्या इस आधार पर उन्हें वैष्णव सन्त मान लेना चाहिए ? यह प्रश्न सहज ही पैदा होता है। इस सम्बन्ध में डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि ''कबीर ने अनुयायी कहना समीचीन न होगा।''[4] डॉ0 रामचन्द्र तिवारी के अनुसार–''कबीर ने जिन सम्बन्धों की राम के प्रति व्यंजना की है, उनमें ग्यारह प्रकार की आसक्तियां भी लक्षित की जा सकती है। किन्तु संभवतवे नारद–भक्ति सूत्र के शास्त्रीय विधान को पूर्णतः चरितार्थ करने के लिए भक्ति के क्षेत्र में नही आये।..... वस्तुतः रागात्मक सम्बन्ध स्थापन से लेकर भावमूलक अद्वैतता की स्थिति तक पहुँचने के लिए उन्होंने इन आसक्तियों को सहायक रूप में स्वीकार किया है।''[5]

अतः कबीर की भक्ति का आन्तरिक पक्ष वैष्णव भावना से अधिकांश तत्व तो ग्रहण करता है किन्तु साथ ही हठयोग को साधना सिद्ध–नाथों की साधना, इस्लामी सुफी फकीरी की प्रेम व्यंजना जैसी बहुसंख्यक, साधनाओं के प्रभाव से भी वे पूर्णतया सम्बद्ध दिखाई देता है। वास्तव में कबीर की भक्ति भारतीय संस्कृति के उस विशाल पक्ष जैसी है, जो अनेक संस्कृतियों के फलीभूत होती हुई, अपने निजत्व की पहचान लगातार बनाये हुए हैं।

अतः कबीर की भक्ति को किसी एक घेर में रखकर देखना, एकांगी दृष्टिकोण होगा। यह इसलिए भी आवश्यक है कि कबीर अकेले स्वयं की आध्यात्मिक उन्नति के पक्ष में नही थे। उनकी आध्यात्मिकता वैयक्तिक न होकर सामाजिक, धरातल के लिए आकांक्षी थी। वे आचार–विचार एवं सिद्धान्त के उच्च धरातल द्वारा उसे वह रूप देना चाहते थे। जो जन सामान्य के लिए श्रेयष्कर हों। अतः कबीर के भीतर सर्वांगीण धाराओं का समाहार बहुत विराट था।

डॉ0 भोलानाथ तिवारी इस सम्बन्ध में कबीर की सार्वजनिकता पर विचार करते हुए कहते है कि ''सारे समाज में आग लगी हो तो एक व्यक्ति बहुत निश्चिन्तता पूर्वक शीतल नही रह सकता। अतः पूरे समाज का वातावरण उसकी शान्ति के लिए बहुत आवश्यक है।''[6] सामाजिक वातावरण की स्वच्छता के लिए भक्त की जिम्मेदारी बहुत बढ़ जाती है। डॉ0 तिवारी ने इस जिम्मेदारी को निश्चय ही परमार्थ से जोड़ कर देखा है। कबीर का वैष्णव होना, उनकी भक्ति का प्रबल पक्ष तो है, किन्तु वे सम्पूर्ण रूप में वैष्णव मात्र है। यह कथन प्रायः अस्वीकृत ही होगा। कबीर का वैष्णव–पक्ष उनकी जनयात्रा के एक समर्थ सहायक भक्ति के रूप में ही उल्लेख होगा।

कबीर ने अपनी साधना की सफलता के लिए कुछ सहायक स्थितियों की आयेजना की है। वे साधन को उस सती की भाँति मानते है। जो अपने प्रियतम के अतिरिक्त किसी अन्य का ध्यान भी नहीं कर सकता। अपनी आँखों में प्रियतम के अनुराग की लाली लगा लेने के बाद, वह काजल को सर्वथा त्याज्य मानती है। ''वह स्वाती की बूँद की तरह प्रणयाकांक्षी है।''[7] कबीर अपने आराध्य को निष्काम को मानते हुए भक्त को निष्काम रहने की शिक्षा देते हैं। वे किसी आकांक्षा से प्रेरित भक्ति को निष्फलता का द्योतक मानते है। भक्त के लिए सांसारिक से ऊपर उठना आवश्यक है।

डॉ0 रामचन्द्र तिवारी ''निष्काम भक्ति के आधार पर मध्यकालीन भक्ति को वैदिक साधना से अलग मानते हैं। और इसका सूत्र नारदी भक्ति से जोड़ते हैं।[8] कबीर उस परम सत्ता के आगे स्वयं को दीन मानते है। वे स्वयं को उसके हाथों, उसकी इच्छा के वशीभूत हो जाते हैं। फिर परमतत्व के समक्ष उनका विनय का भाव होता है। वे भक्त के लिए उस मध्य मार्ग की आयोजन करते हैं जिसके सूत्र बौद्ध धर्म में उपलब्ध है। वे व्रत–उपवास से शरीर को सुखाने एवं गृहत्याग द्वारा आडम्बर की स्थिति खड़ी करने के पक्षधर नही है, बल्कि वे मनोविकारों पर विजय मात्र को भक्त के लिए आवश्यक समझते हैं।

नारद भक्ति सूत्र के अनुसार विषय एवं कुसंग–त्यांग भक्ति के लिए परमावश्यक है। कबीर इससे आगे बढ़कर आचरण की शुद्धता के लिए, विकार, उत्पन्न करने वाले साधनों का त्याज्य मानते हैं। भगवान की भक्ति के लिए वे विषयों से वैराग्य आवश्यक मानते हैं। वे कामिनी को भक्त के मार्ग का बाधक बताकर उससे समाप्त होने वाले सुखों की ओर इंगित करते हैं। कबीर इस बात को स्वीकार करते हैं कि भक्त के लिए यह आवश्यक है कि वह भगवान के प्रतिकूल आचरणों को छोड़कर उसके अनुकूल आचरण करें तथा इस बात में आस्था रखे कि प्रभु सर्व–समर्थ है। वह रक्षक है। वह हर तरह से जीवन नौका को संसार सागर से पार करेगा।

डॉ भोलानाथ तिवारी का कथन है कि ''भक्ति इस प्रापत्ति के अनुसार अहंपूर्ण व्यक्तित्व को समाप्त कर सब दृष्टियों से आराध्य में लीन हो जाता है। पुराणों में प्रपत्ति के छः भेद किये गये हैं।''[9] कबीर ने भक्ति के लिए 'गुरू' को सर्वोपरि माना है। हरि के रूठने पर तो भक्ति के लिए कोई पथ खुल सकता हैं किन्तु 'गुरू के रूठने पर सारे पथ बन्द हो जाते हैं। कबीर अपने गुरू पर 'बलिहारी' जाते हैं। यहाँ तक कि वे उसे गोविन्द का पर्याय लेते हैं। वे

उसके उपकार को कभी भी भुलने की स्थिति में नही होते क्योंकि सतगुरू ने उनके ज्ञान के अनन्त लोचन खोल दिये।

कबीर के ज्ञान और योग के विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। वस्तुतः ज्ञान और योग को एक दूसरे का पर्याय मानकर चित्त वृत्तियों को शान्त करने का साधन मानते हैं। डॉ0 रामचन्द्र तिवारी के अनुसार ''ज्ञान–साधना का अर्थ माया से मुक्त होकर 'आतम राम' को पहचानना है।''[10] ज्ञान–भ्रम, माया, मोह, तृष्णा को समाप्त कर, सत्य क प्रतीति करा देता है। वस्तुतः योग–साधना का लक्ष्य भी इन परिस्थितियों से मुक्ति पाना ही है। अतः कबीर अपनी साधना में ज्ञान के साथ योग की भी स्थिति स्वीकार करते हैं।

कबीर की साधना में हठ योग की विशिष्टता है। अतः कबीर इड़ा, पिगला, कुंडलिनी तथा अष्टचक्र की चर्चा करते हैं। ''साधना की मध्यावस्था में हठयोग में प्रेम भाव का संयोग हो जाता है। अन्तिम अवस्था में भक्त केवल प्रेम भोगी रह जाता हैं उस समय उसकी स्थिति कुछ इस प्रकार हो जाती है, कि वह वाणी की सीमा से स्वयं को अभिव्यक्ति करने की स्थिति में नहीं होता।''[11]

इस तरह कबीर अपने आराध्य परमतत्व को निर्गुण की पहचान देकर उसे उनके नामों से व्यक्त कर, भारतीय परम्परा से प्राप्त भक्ति के प्रायः सभी उदात्त स्वरूपों का समाहार करते हैं। उन्होंने परमतत्व के उन प्रचलित अंशों को अस्वीकार कर दिया, जो अपनी सीमाओं के कारण जन्म–मरण में भटक कर एवं जन–सामान्य में सीमित होकर अलग अलगर सम्प्रदायों के लिए भक्ति का विकृत रूप उपस्थित कर सकें। कबीर ने अपने प्रभु का न केवल भारतीय परम्परा से प्राप्त रूप में गुणगान किया, अपितु वे उसके सर्वथा नये रूप के प्रति सचेत भी हुए। उन्होंने भक्ति की सर्वथा नूतन पद्धति का आविष्कार किया, जो तत्वतः अनेक पद्धतियों का समावेश होकर भी एक नये स्वरूप का निर्माण करती है जहाँ सर्व कल्याण ही श्रेय और प्रेय है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ0 पारस नाथ तिवारी, कबीर वाणी, पृ0–83
2. डॉ0 पारस नाथ तिवारी, कबीर वाणी, पृ0–81
3. डॉ0 भोलानाथ तिवारी, कबीर जीवन और दर्शन, पृ0–67
4. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ0–144
5. डॉ0 रामचन्द्र तिवारी, कबीर मीमांसा, पृ0–48
6. डॉ0 भोलानाथ तिवारी, कबीर जीवन और दर्शन, पृ0–130
7. डॉ0 भगवत स्वरूप मिश्रा, कबीर ग्रन्थावली, पृ0–473, पद–339
8. डॉ0 रामचन्द्र तिवारी, कबीर मीमांसा, पृ0–81
9. डॉ0 भोलानाथ तिवारी, कबीर जीवन और दर्शन, पृ0–70
10. डॉ0 रामचन्द्र तिवारी, कबीर मीमांसा, पृ0–84
11. सन्त वैष्णव काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव, पृ0–276

Industrialization in South Asia: Challenges & Prospects

Satyam Mishra

Ph. D. Scholar, Department of Geography,
Delhi School of Economics
University of Delhi

Abstract:- South Asia has attracted global attention because South Asian nations hasexperienced rapid GDP growth over the several decades.South Asia is experiencing fast industrialization but some of its parts are still not functioning with full potential. What is not so well known is that South Asia is the least integrated region in the world. South Asia has opened its door to the rest of the world but it remains closed to its neighbors. Poor market integration, weak connectivity, and a history of friction and conflict have resulted in two kind of South Asias. This paper attempts to trace the industrial growth in South Asia and explores future challenges and prospects.Secondary data and statistics have been used in this paper. Regional cooperation and market integration will unlock the development of these lagging regions in South Asia but industrialization will be a precondition for that.

Keywords: South Asia, Industrialization, Growth, Development, Human development, SAARC

Introduction:- South Asia is a term created about 5-6 decades ago to represent the southern region of the Asian continent, which comprises the sub-Himalayan countries and, for some authorities, adjoining countries to the west and east. The present boundaries of Bangladesh, India, Sri Lanka and Pakistan form the core countries of South Asia, while Nepal, Bhutan, Afghanistan, and Maldives are generally included. With the 7 core countries considered, South Asia is shelter to well over one fifth of the earth population, making it the most populous and most densely populated geographical region in the world. World's most of the below poverty population lives here and on contrary world's fastest growing economies too. Industrialization in South Asia started in the reign of colonial powers but it got momentum after the South Asian countries became independent. Many scholars see industrialization as a precondition of development and most of them believe that to change the lives of millions of citizens below poverty line South Asian nation needs rapid industrialization.

Objectives: - Prime objectives of this paper are to describe industrialization scenario in South Asia, factors promoting it, problems associated with it and future prospects of industrialization in South Asia.

Database:- This paper is based on secondary data from various sources that ranges from World Bank database to CIA data. Apart from these sources mentioned earlier, different literary works in the form of articles, journals & books and other information from World Wide Web (Internet) have alsobeenusedfor the analysis and discussion.

Study Area:- The current territories of Bangladesh, India and Pakistan (the core of the British Empire prior to 1947) form the core countries of South Asia, while the mountain countries of Nepal and Bhutan, and island countries of Sri Lanka and Maldives are generally included.

The common concept of South Asia is largely inherited from the administrative boundaries of the British Raj. The South Asian Association for Regional Cooperation (SAARC), a contiguous block of

countries, started in 1985 with seven countries - Bangladesh, Bhutan,India, the Maldives, Nepal, Pakistan and Sri Lanka - but was extended to include Afghanistan as an eighth member in 2006.

Geographical extent of South Asia:- While South Asia had never been a coherent geopolitical region, it has a distinguishable geographical identity. South Asia is home to variety of geographical features, such as glaciers, rainforests, valleys, deserts, and grasslands that are typical of much larger continents. South Asia is bounded on the south by the Indian Ocean and on land (clockwise, from west) by West Asia, Central Asia, East Asia, and Southeast Asia. It is surrounded by three water bodies - the Indian Ocean, the Bay of Bengal, and the Arabian Sea.

Climate:- The climate conditions of this huge region vary considerably from one area to another, from tropical monsoon in the south to temperate in the north. The variety is influenced by not only the altitudinal height, but also by factors like proximity to the sea coast and the seasonal impact of the monsoons.

South Asia is divided into four major climate zones:

- The northern Indian edge and northern Pakistani uplands have a dry subtropical continental climate
- The far south of India and southwest Sri Lanka have a equatorial climate
- Most of the peninsula have a tropical climate with variations: ► Hot subtropical - northwest India ► Cool winter hot tropical – Bangladesh ► Tropical semi-arid - the center
- The Himalayas - Alpine climate

Climate of South Asia is largely characterized by monsoons. South Asia depends critically on monsoon rainfall. Two monsoon systems exist in South Asia, the summer monsoon & the winter monsoon. **MAP-1**

Demography:

TABLE-1

Country	Total population	Labor Force participation (% of Male,15 +)	Labor Force participation (%ofFemale, 15 +)	Life Expectancy (Male)	Life Expectancy (Female)	Proportion of seats held by women's in parliament	Urban Population (%)
Afghanistan	31,822,848	80	16	59	62	28	26
Bangladesh	166,280,712	77	57	70	71	20	34
Bhutan	733,643	77	67	68	68	9	38
India	1,236,344,631	80	27	65	68	11	32
Maldives	393,595	78	56	77	79	7	44
Nepal	30,986,975	87	80	67	69	30	18
Pakistan	196,174,38	83	25	66	67	21	38
SriLanka	21,866,445	76	35	71	77	40	18

Source-https://www.cia.gov/library/publications/the-world-factbook/wfbExt/region_sas.html

Economy: Glimpses of Economic activities

The South Asia Free Trade Agreement and World Bank grouping of countries in the region includes only the original seven members of SAARC, and leaves Afghanistan out.

India is the biggest & fast growing economy in the South Asia (US$2.05 trillion). It makes up almost 82% of the South Asian economy; it is the world's 10th largest in nominal terms and 3rd largest by purchasing power adjusted exchange rates(US$7.28 trillion). India is the only member of powerful G-20 major economies and BRICS from the region. Pakistan has the next largest economy ($245 billion) and the 5th highest GDP per capita in the region, followed by Bangladesh.

The two important Market stock exchanges in the region are National Stock Exchange of India (NSE) and Bombay Stock Exchange (BSE) with market capital of $1.49 trillion and $1.52 trillion, 13th&12th biggest in the world.

FIGURE-1

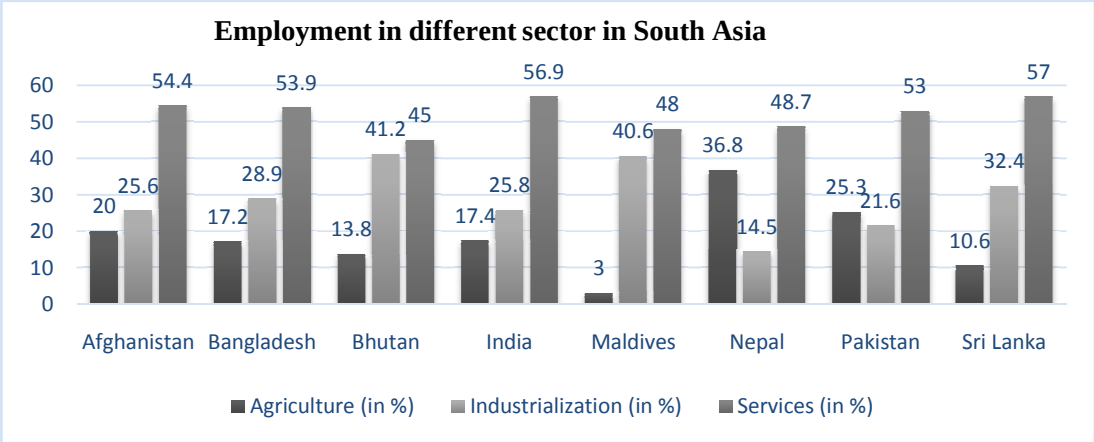

Source- https://www.cia.gov/library/publications/the-world-factbook/fields/2012.html

Human Development & Governance: According to the World Bank statistics, 70% population of the South Asia and approximately 75% of South Asia's poor live in rural areas and depends on

agriculture for their livelihood.Global Hunger Indexreveled that, South Asia has one of the highest child malnutrition rates in the globe.

Industrialization in South Asia: Characteristics- Industrialization is the period of social and economic modification that switches a human society from agriculture based traditional society to an industrial and modern one. It is a part of a wider modernization process, where social changes and economic development are inseparable with technological advancement, mainly with the development of large-scale energy and heavy production industries and ancillary industies. It is the extensive organization of an economy for the manufacturing purpose.

Important encouraging factors for industrialization within an economy are favorable politico-legal environment, abundant supply of raw materials and natural resources, demand for the produced goods and services and plentiful supply of skilled and low-cost labor.

According to the **sector-classification** (Jean Fourastié, 1907-1990), an economy consists of three main sectors:

- "primary sector" includes commodity production (farming, livestock breeding, exploitation of mineral resources)
- "secondary sector" includes manufacturing and processing (as paid work)
- "tertiary sector" represents service industries

TABLE-2

Country	Agriculture (%of GDP)	GDP (% of annual growth)	GDP (Current PCI in $)	Export (% of GDP)
Afghanistan	24	11.9	665	6
Bangladesh	16	6.0	958	20
Bhutan	17	2.0	2363	41
India	18	5.0	1499	25
Maldives	4*	3.7	6666	111*
Nepal	35	3.8	694	11
Pakistan	25	4.4	1275	13
Sri Lanka	11	7.3	3280	22

Source-http://data.worldbank.org/indicator/NY.GDP.MKTP.KD.ZG?display=default2012*Data

TABLE-3

Country	Labor Force participation (% of Male, 15 +)	Labor Force participation(% of Female, 15 +)	Life Expectancy (Male)	Life Expectancy (Female)	Urban Population (% of total)
Afghanistan	80	16	59	62	26
Bangladesh	77	57	70	71	34
Bhutan	77	67	68	68	38
India	80	27	65	68	32
Maldives	78	56	77	79	44
Nepal	87	80	67	69	18
Pakistan	83	25	66	67	38
Sri Lanka	76	35	71	77	18

Source- http://data.worldbank.org/indicator/NY.GDP.MKTP.KD.ZG?display=default

Important characteristics of industrialization in South Asia:

- In south Asia industrialization process started in colonial regime at very negligible level but after the end of colonial rule, independent nation started their initiatives toward self-sufficient production of previously imported goods.
- Most of the population in South Asian countries lives in rural areas and a significant share of GDP comes from agriculture based activities.
- Mechanization of agriculture and spread of education and health services is promoting growth and micro and small scale industrialization in South Asia.
- With the start of industrialization in South Asia, unplanned industrial slums and urban slums became major challenge as migration of labors from peripheral areas continues. Cities of Mumbai and Karachi are significant examples.
- India, Sri Lanka and Bangladesh falls within the category of NIC's (Newly Industrialized Countries) and other South Asian countries have not hi-end production technologies and the they are in initial stage of industrialization.
- Tourism is important component of economy in counties like Bhutan, Nepal, Maldives, Sri Lanka, and India.
- Most of South Asian countries are exporter of raw materials and food grains, textiles, handicrafts, poultry and dairy products, mining ores, medicines as well as they are importer of manufactured goods, engineering equipment, petroleum products, hi-tech machinery.
- With the emergence of economic liberalization South Asian nation tried to attract foreign investment through their flexible policies and availability of low cost labor.
- MNC's establishing their manufacturing hubs in South Asia because with nearly 25% of world population it is a huge market with endless possibilities and with abundant low cost labor supply it can be aneffective centre of offshoring.
- South Asian countries are growing with effective annual GDP growth, i.e. Afganistan (11%), Sri Lanka (7.3), India (5%), and Bangladesh (6%).
- Most of the workforce of South Asian countries is engaged in informal economic activities.
- Export data of South Asian countries shows that economies of these countries are tilted towards self- consumption; none of these countries export more than 50% of its GDP except Maldives, i.e. India (25%), Bangladesh (20%), Pakistan (13%).

Problems in Industrialization and challenges by Industrialization:

- Lack of political stability, peace and harmony within and among South Asia counties is hitting the economy of South Asia badly. Boundary issues are biggest hurdle in multilateral trade among South Asian counties.
- Lack of efficient techniques and adequate capital is also a big path breaker in industrialization, most of the South Asian nations are in debt towards western countries and development agencies. South Asian nation do not have enough experience about industrialization and development.
- Rapid industrialization is also posing threat of uneven development of regions and development of urban slums.
- Problem of land availability for industries and unrest among peasants and citizens against land and other resource grab by Governments for corporate.
- Lack of green technologies in industrialization is also mounting stress on environment. Depletion of forests, pollution of environment, changes in land use pattern, desertification are some serious

problems caused by industrialization in South Asian counties. Cities of Kanpur, Dhaka, and Karachi are major examples.

Future Prospects:

With reference to the above data we can clearly imagine the future prospects of industrialization in South Asia. Most of the countries of this region are in early stage of industrialization and they have enough potential for industrial growth. Abundant natural resources, huge home based consumer demand, demographic dividend; availability of low cost labor, increasing infrastructural facilities will present golden opportunities for South Asian counties to grow. But political stability, good relations with neighbor countries, attractive policies to investors, expansion of health services and education and good governance are preconditions. According to a World Bank report in 2007, South Asia is the least integrated region in the world; trade between South Asian states is only 2% of the region's combined GDP so there is huge possibility of trade among South Asian nations that will propel the industrialization in the region.

Conclusion- The process of globalization has made the world more connected by the means of modern transportation and this has significantly made the South Asian countries more important in the world order. With much more global connectivity, foreign direct investment, huge human capital, abundant natural resources and one of world's biggest consumer base South Asian nation have comparative advantage to compete in free market scenario and it's now up to their policy makers, which path of development they would like to prefer.

References:

http://data.worldbank.org/country/sri-lanka
http://data.worldbank.org/country/india
http://data.worldbank.org/country/pakistan
http://data.worldbank.org/country/afghanistan
http://data.worldbank.org/country/maldives
http://data.worldbank.org/country/nepal
http://data.worldbank.org/country/bhutan
http://data.worldbank.org/country/bangladesh
http://data.worldbank.org/indicator/NY.GDP.MKTP.KD.ZG?display=default
http://data.worldbank.org/indicator/NY.GDP.MKTP.KD.ZG?display=default
https://www.cia.gov/library/publications/the-world-factbook/fields/2012.html
https://www.cia.gov/library/publications/the-world-factbook/wfbExt/region_sas.html
http://unstats.un.org/unsd/methods/m49/m49regin.htm
http://unstats.un.org/unsd/methods/m49/m49regin.htm
Inequality-adjusted Human Development Index (2012), UNDP
Multidimensional Poverty Index (2013), Oxford University
The Worldwide Governance Indicators (2012), World Bank Publication

Psychological and Social consequences of deprivation in India

Dr. Pratyush Pandey
Assistant Professor
Dept. of Political Science
N.G.B.V. Allahabad.

Some peoples in all cultures and historical periods exhibit talent that change the course of civilzation. By Virtue of their extra ordinary abilities they have been expected to contribute to social and psychological survival and cultural advance since perhaps they very origin of communal life.

Aristotle, John Locke, Albert Einstein, Bertrand Russell, R.N. Tagore and C.V. Raman, M.K. Gandhi, Karl Marx and Martin Luther King all these people are admired. They are talented because of their ability to solve problems and perform feats that are beyond the capacility of ordinary people.

Here the problem is 'Education of the deprived'. Deprivation has been an area of interest for educationalists for a long time.

"A term deprivation is a multidimensional concept. From its etymological point of view deprivation implies 'felt loss'. It relates to certain features or aspects of environment that are absent or inadequate in certain degree which cause and impact an functioning of individual."

The phenomenon of deprivation has been approached from many perspectives and has acquired a variety of meaning and operations.

It may be of diverse kinds - i.e. social, economic, physical, parental, educational, emotional, ecological, physiological etc. It can influence cognitive, affective and psychomotor development of students. The effect may be moderated by the prolonged or short duration of exposure to the condition of deprivation. The understanding of differences in cognitive abilities, personality traits, moral reasoning, social behaviours, creativity, level of motivation and problems of the deprived is essential for the development of a pedagogy of the deprived.

Socio-psychological factors among the parentally deprived and non-parentally deprived children the correlational tables were calculated for three groups MD, PD and NPD. On the basis of the findings of each table it is found that the achievements in 4 subject viz., mathematics, science, language, social studies and in their aggregate are significantly and positively related with socio-economic status and self-concept in each group. It means these two factors play an important role in school achievement. Children belonging to high SES and self-concept are likely to achieve high irrespective of the fact whether they are parentally deprived or not.

When we look into the other relationships it is found that achievement in mathematics is positively and significantly related with 'dull vs. bright', 'sober vs. enthusiastic' and 'undisciplined self-conflict vs. controlled' in maternally deprived children and with only 'dull vs. bright' in paternally deprived children. It means that being more enthusiastic and controlled with help maternally deprived children to achieve more. This also confirms the findings of the 1st hypothesis where these children are found sober and not controlled and also low in mathematics achievement. At the same time here exist differences in the nature of relationship between achievement in mathematics and psychological factors. In maternally and paternally deprived children, one more

factor viz., enthusiastic & controlled behaviour is found significantly and positively related with this achievement in maternally deprived group whereas only one factor. It means besides brightness the other two personality factors also play an important role in mathematics achievement in MD group, while 3 more personality factors are found significantly and positively related with this achievement, in NPD children. It means being more warmhearted, conscientious and tender minded will these children to achieve more. These findings reveal that significant relationship exists between SES, self-concept, some of the measured personality factors and mathematics achievement.

The significant negative correlations with mathematics and some personality variables are also found in maternally and paternally deprived groups. They are affected by feelings vs. emotionally stable and phlegmatin vs. excitable in case of the former (MD) and self-assured vs. guiltprone and relaxed vs. tense in case of the latter group of PD. It means that being affected by feelings and phlegmatic helps maternally deprived children to achieve more. The findings usually do not occur with the non-deprived. The reason may well be found in the fact that the maternally deprivation affects the emotional and phlegmatic aspects of the children which may generate stress in them and under the stressful conditions need to achieve may develop resulting in more achievement in mathematics.

While in paternally deprived children the findings reveal that being more self-assured and relaxed will help these children to achieve more. The probable reason for this may well be found in the fact that due to the absence of father and tight financial position these children become guilt prone and tense which affect adversely the achievement and if they are made to liberate from the bond of these deprivations they are likely to achieve more in mathematics.

In case of achievement in science among maternally deprived children the significant positive and negative relationships exist with those personality factors which are found significantly and positively as well as negatively related with achievement in mathematics in this group except for the variable dull vs. bright.

This may be because of the nature of subjects. Both the subjects are correlated with each other. Hence the same type of relationship is found here.

For achievement in language among maternally deprived children, most of the personality factors which have significant relationships with language achievement are the same as found in mathematics and science achievement except two differences: Firstly, the variable "tough minded vs. tender minded" has also been found significantly and positively related with it and secondly, the variable 'affected by feelings vs. emotionally stable which was negatively and significantly related with science and mathematics is found non significant here. It means beings more tender minded along with the traits which have significant relationships with mathematics and science helps the maternally deprived children to achieve more in language. In the absence of the loving and stimulating figure mother, those children are likely to become more realistic and tough minded to face the derivational conditions. This attitude does not help these children to achieve more in language. By providing loving environment their achievement can be raised.

Among paternally deprived children only one additional variable is found significantly and positively related with language achievement that is, 'reserved vs. warmhearted' disclosing the fact that being more warmhearted helps these children to achieve high in language. These children get the love and affection of mother so these factors which are found significantly related in maternally deprived children became non-significantly related in maternally deprived children became non-significant here. But these children suffer from father-deprivation, their so basic needs remain

unfulfilled which make their movements restricted resulting in reserved nature. They can hardly express themselves. By making them more warm-hearted their achievement in language can be raised.

A look into the achievement of social studies among maternally deprived children reveals that two personality factors are significantly and positively related with this achievement. These are 'Expedient vs. conscientious' and 'undisciplined self-conflict vs. controlled'. The latter is the same as was related with language achievement, but the former factors is in addition to the previous factors. It means being more conscientious helps maternally deprived children to achieve more in social studies.

While in paternally deprived children results, show that being more zestful, self-assured and relaxed will help these children to achieve more in social studies. It may be because this subject is related to general knowledge and to understand it well, a child should be in relaxed and zestful mood so the mental abilities may work with their full capacities.

The aggregate achievement in maternally deprived children is found significantly and positively related with the personality factors 'dull vs. bright' and 'undisciplined self-conflict vs. controlled' while negatively and significantly related with phlegmatic and controlled will help these children to achieve more in aggregate. It also means that the personality traits viz., controlled behaviour has very strong relationship with achievement as it is found significantly related in all the subjects (mathematics, science, social studies) and their aggregate. The phlegmatic nature is also essential for better achievement in maternally deprived children because it is found significantly related in all the subjects (Mathematics, science, social studies) and their aggregate. The phlegmatic nature is also essential for better achievement in maternally deprived children because it is found significantly related with al the subjects excepts social studies.

I case of paternally deprived children the personality variable 'dull vs. bright', and 'shy vs. venturesome' are found significantly and prohibitively related and the two personality variables viz. 'self-assured vs. guilt-prone' and 'relaxed vs. tense' are negatively and significantly related with the aggregate achievement. It means being more bright, venturesome, self-assured and relaxed will help these children to achieve more. Most important relationships, which found here are the relaxed, self-assured, and brightness characteristics. The only common relationship, which found between the two deprived groups of children is brightness. This fact brings to our notice that parental deprivation whether it is due to mother or father affects intelligence and therefore the deprived children are found dull and low in achievement. Rest of the personality factors are effected adversely but in different ways in each groups.

The nature of relationships non-parentally deprived children reveals that being more zestful, self assured, relaxed, conscientious, venturesome and being more dominant, conscientious, self-assured, relaxed and being more emotionally stable will help these children to achieve more in mathematics, science, language social studies and their aggregate respectively.

On the basis of these finding it is clear that different type of relationship exits in each group since non deprived children possess average self concept and warm heated, emotionally stable, controlled and relaxed traits of personality their achievement is better than deprived groups.

The above discussion reveals that there exists significant correlations between dependent variables of achievement in mathematics, Science, language, social studies (their aggregate) and independent variables of SES, self concept and some of the measured personality factors. Hence hypothesis HII is partially rejected here.

Above mentioned topic indicate that socio-psychological characteristics of the parentally deprived children influence their educational achievements. It implies that the educationists should pay special attention to the education of the parentally deprived children in order to develop their personality and learning abilities. These efforts can arise achievement level and self -concept of the parentally deprived children. School may provide variety of programmes and rich array of experiences which may give the parentally deprived the opportunities for self-expression and development of their confidence, self-concept learning abilities and adjustment.

Following steps can be taken in schools to improve educational backwardness among parentally deprived children.

The present study revealed that the total achievement of deprived children is less than that of the non-deprived. There fore an early childhood education or compensatory education may be used as instrument to reduce or minimize their feelings of deprivation, which seem to adversely affect their achievement. In such education the most important things is love for the deprived child. The teaching staff must be very cordial to such child and a sort of close interpersonal relationship should be developed between teacher and taught. The efforts of these children must be recognized and rewarded and teacher should not discourage or punish these pupils for their inadequate performance or lack or comprehension of even the most rudimentary concept.

For improvement of linguistic abilities school can arrange some programmes, such as puppet show to dramatize well known stories and allowing the children to describe what they saw. Teacher can also tell the interesting stories based on animal or other interesting figures and make these students repeat them. In this way children can improve the vocabulary as well as they will be able to control their hesitation in self expression. Prayers nursery rhymes etc. should be arranged on larger scale.

It is also found that achievement in social studies in both the deprived groups can be predicted on the basis of language achievement. It means by developing linguistic abilities through the methods described earlier, achievement is social studies can also be improved.

In the end it may be summarized that by providing appropriate curricular and co-curricular educational programmes and improving teachers role and pre-school education the abilities and personality of parentally deprived children may be improved. These improvements will help the parentally deprived to achieve better in different subjects. Our finding warn the educational administrator not to label students achievement as satisfactory or unsatisfactory. Such decisions should take into consideration the type of parental deprivation children suffer from and the psycho-social characteristics of students.

REFERENCE

1. Chester I. Barnard, The functions of the Executive. (Cambridge, M.A.; Harvard University Press, 1938);
2. Herbert A-Simon, Models of man, Social and Rational (New York: John weley and sons, 1957
3. Charles E. Bidwell and Rebecca S. Vreeland, "College, Education, and Moral Orientations: An organization Approach," Administrative Science Quartely 8 (September 1963) PP. 166-191.
4. Erikson, Childhood and Society, P.269
5. Daniel Levinson, "The Psychosocial Development of Men in Early Adulthood and the Mid- Life Transition Mimeographed (New Haven, CT: Yale University, 1973.
6. Leonard Berkowitz, ed: Advances in Experimental Psychology, Val. 1 (New York: Academic Press, 1964).

Philosophical Views of Bhagavadgita

Dr. Arvind Shukla (Asst. Professor)

Deptt of Philosophy
Nehru Gram Bharti Vishvavidyalay, Allahabad

Bhagawadgita literally means 'The Lord's Song', i.e., the philosophical discourse of Lord Krisna to persuade the reluctant Arjuna to fight. It is the most popular and sacred book of the Hindus and is contained in the Bhisma-Parva of the Mahabharata, the greatest Sanskrit epic.

Various are the praises showered on this work both by Indian and European scholars. Lokamanya Tilak calls it 'a most luminous and priceless gem which gives peace to afflicted souls and makes us masters of spiritual wisdom'. Mahamana Malaviyaji sees a unique synthesis of 'the highest knowledge, the purest love and the most luminous action' in it. Mahatma Gandhi calls it 'the universal mother whose door is. wide open to anyone who knocks', and further says that' a true votary of the Gita does not know what disappointment is. He ever dwells in perennial joy and peace that passeth understanding'. The Gita deals with metaphysics, religion and ethics, and has been rightly called the 'Gospel of Humanity'.

The central teaching of the Gita can be beautifully summarized in this sentences of Annie Besant: 'It is meant to lift the aspirant from the lower levels of renunciation, where objects are renounced, to the loftier heights where desires are dead, and where the Yogi dwells in calm and ceaseless contemplation, while his body and mind are actively employed in discharging the duties that fall to his lot in life.' The Gita tries to build up a philosophy of Karma based on Jnana and supported by Bhakti in a beautiful manner.

In the beginning we find Arjuna horrified at the thought that he has to fight with his relatives and friends and he says to Krisna that he can foresee no advantage in killing relatives and he flatly refuses to fight- 'I would not like to kill these, even though I may be killed by them'.[1] Krisna, then, proceeds to instruct him that it is his duty as a prince, as a warrior, as a righteous man to fight against evil and restore peace and order. Some people have tried to read in the Gita a 'cult of murder'. But this simply shows to what extent a noble work can be misinterpreted. To fight against evil is the duty of man. To make the situation poignant relatives and beloved friends and revered eleders stand on both sides and Arjuna has to vindicate his claim, he has to follow his Svabhava and Svadharma. It is a significant fact that though Lord Krisna in t he beginning repeatedly asks Arjuna to fight, in the end when the teaching has been imparted to him, the Lord simply says-'Do as you please.'

The fundamental metaphysical teaching of the Gita is that of the unreal there is no being, and of the real there is no non- being'.[2] The soul is indestructible (avinashi), eternal (nitya), urborn (aja), undiminishing (avyaya), all-prevasive (sarva-gata), immovable (achala), ancient (sanatana,) unmanifest (avyaakta), unthinkable (achintya) and immutable (avikarya). Only bodies are destroyed, not the soul. It is neither born no dies it die. It is immortal and everlasting. Not bieng subject to birth and death, it cannot perish along with the body. Just as a person casts off worm- out garments and puts on t he new ones, so dies the soul cast off worn-out bodies and enters into others that are new.[3]

The infinite underlies and animates all finite existences, and the soul being essentially one with it, is not affected by birth and death, by growth and decay, by finitude or change, 'even though our body be "dust returning unto dust".[4] He who sees the Ultimate REality seated equally in all beings and unperishing within the perishing, sees trully.[5]

THE Gita represents a unique synthesis of Action, Devotion and Knowledge. Man is a complex of intellect, will and emotion; he is a being who thinks, wills and feels. Intellect has given rise to the philosophy of knowledge; will to the philosophy of action; and emotion to the philosophy of Devotion. Modern Psychology teaches us t hat these three aspects of mind are distinguishable only in thought and not divisible in reality. There is no watertight division separating one from the rest. The teaching of the Gita is in keeping with his views. To quote Dr. S.Radhakrishnan: 'The Absolute reveals itself to those seeking for knowledge as the Eternal Light, clear and radiant as the sun at noon-day; to those struggling for virtue as the Eternal Righteousness, steadfast and impartial; and to those emotionally inclined as Eternal Love and Beauty of Holiness.' Different people attain the same goal of salvation by these three different paths of knowledge, action and devotion.

All these three ultimately stand synthesised. This synthesis is called 'Yogo'. The literal meaning of the world in union, i.e., of the individual with the Absolute. It means equanimity or balance of mind (samatva). It means the higher perspective of action which comes through detachment (karmasu Kaushalam). The Yogi is the ideal ascetic who curbs his passions and maintains calmness in cold and heat, in joy and sorrow, in honour and dishonour.[6] 'As a lamp flickers not in a windless place, that is the simile for the Yogi who curbs his thoughts and yields himself entirely to absorption.'[7] We find the following beautiful description of Yoga : 'Where seeing the self by the self, one is satisfied in oneself; where one experiences the absolute bliss, known only to higher reason, but ever beyond the senses, and standing where one swerves not from the truth; where no other gain is considered greater, and where one is not moved by the greatest pain-that state free from misery is Yoga.'[8] A Yogi is a Sthita-sthiti), where he is never bewildered (nainam prapya vimuhyati) and from which he never falls down (yad gatva na nivartante).

THIS YOGA is essentially and predominantly the path of knowledge. The Yogi's ideal is self-realization which cannot be attained without knowledge. Even the devotees are granted knowledge by the Lord so that they may realize the goal.[9] Yoga, bereft of knowledge, is an impossibility. We may weaken the power of the senses by fasting and abstaining from necessities, but unless we rise above the relish and the desire, the psychological attachment to the sense-objects, we are not true Yogis. And this relish can go away only with the rise of true knowledge.[10] How high the Gita places knowledge can be seen from t he following: 'Even the most sinful man can cross over the ocean of Samsara by means of the boat of knowledge alone. As a fire well-kindled reduces fuel to ashes, so the fire of knowledge reduces all actions to ashes. The culmination of action is in knowledge. Having obtained knowledge, one soon embraces, peace. There is nothing purer than knowledge'.[11] The knower is identifid by the Lord with His own self.[12]

KARMAYOGA is not opposed to Jnanayoga. In fact, the former is possible only when the latter is attained. No embodied being can completely renounce actions.[13] The constituent Gunas of Prakrti, Sattva, Rajas and Tamas, necessarily give rise to actions. As Wordsworth says;

'The eye cannot choose but see,
We cannot bid the ear be still,
Our bodies feel where'er they be
Against or with our will.'

The universe itself depends on actions.[14] Inertia is not liberty, but death. Work keeps up the cycle of the universe and it is the duty of every individual to help it. He who does not do so and finds pleasure in the senses in sinful and lives in vain.[15] The ideal of the Gita is not negativism, asceticism or escapism. it is not negation of actions, but performance of actions in a detached spirit. It is not Naiskarmya, but Niskama Karma. The giving up is not of action itself, but of interest, desire, fruit, attachment regarding action. Desire binds a man; he should therefore act in such a way when action does not bind. The Gita synthesises both Pravrtti and Nivrtti. As Prof. M. Hiriyanna says: 'The Gita-teaching stands not for renunciation of action, but for renunciation in action.' It is emphatically stated that Samnyasa does not mean the renunciation of action, but of interest, desire and attachment; it means the giving up of the fruit of all work.[15] Actions are our sphere; fruits are not our concern. We should never be attached to the fruits of actions and at the same time we should never be inactive.[16] And without knowledge, renunciation of desire and attachment is not possible. So only a true jnani can perform niskama karma. Therefore the Gita says: Only fools and not wise people seak of jnana and karma as different and opposed; really they are one.[17]

Here arise an apparent contradiction in the Gita where itis also remarked that for him who has realized the self, who is enjoying the bliss of the self, and who remains ever satisfied in the supreme peace of the self, for him there remains nothing to be done.[18] This verse emphasises the word 'tasya' ('for him'). The perfect man has no axe of his own to grind. He simply acts for the good of the people. The Lord Himself, though he has nothing to accomplish for himself, acts for the benefit of humanity. The perfect man also has to work for the benefit of humanity (loka-sarigraha) in the spirit of perfect detachment, disinterest, selflessness, with no desire to reap the fruit. He alone is capable of doing so. The liberated 'cave- dweller' in Plato goes again into the cave to free others. He who performs actions in a detached manner, thinking himself to be a mere instrument of God, is not contaminated by sin like the lotus-leaf, though living in water, yet not being contaminated by it.[19] But the Gita definitely recognizes a supra-social state for the liberated sage. He cannot be forced to work. He may not be living in society, yet his very presence in the world confers benefits upon humanity, like the presence of the sun.

An objection is raised here that absolutely disinterested action is a psychological impossibility. But it is not valid. Firstly, the liberated sage has risen much above the psychological plane. He is on the transcendental mystic plane and empirical injunctions and prohibitions, ordinary rules of practice and psychological rules do not apply to him, Intellect cannot grasp this state; it can only point towards it. Secondly, for the aspirant, we may say the Gita recommends, not the annihilation of all desires, but the merging of all desires in one supreme desire-the desire for the development of spiritual life. All actions, therefore, should be inspired by this supreme desire. The betterment of our spiritual life is the single motive and the only end prescribed for all our actions.

BHAKTI or devotion is defined as disinterested service to God. So it is a form of Karma. And disinterested action, as we have seen is not possible without knowledge. Hence Bhakti tool like Niskama Karma, can be performed only by a true jnani. Only he can completely resign himself to the Lord. The devotee is confident of the guarantee given by the lord-'Never does My devote perish'[20] and 'The doer of good never comes of grief'.[21] The Lord says: 'Even if a very ill-conducted man worships me, not worshipping any one else, he must certainly be deemed to be good, for he has well resolved. He soon becomes devout of heart and obtains lasting tranguillity. O Arjuna, know firmly that My devotee is never ruined. He who does My work, who yields himself upto Me, who is devoted to Me, void of attachment, without hatred to anyone, O Arjuna, comes to Me.' [22]

The object of devotion is the personal God, the Purusottama on whose mercy the devotee has to throw himself utterly. Absolute dependence and utter faith are very necessary. The Lord says: 'Merge thy mind in Me, be My devotee, prostrate thyself before Me, thou shalt come upto Me. I pledge thee My Word; thou art dear to me. Abandoning all Dharmas come unto Me alone for shelter; sorrow not, I will liberate thee from all sins'.[23] The Lord Himself lifts up His devotees from the ocean of birth-and-death.[24] The love of God is the supreme love and every other form of it is an imperfect manifestation of this supreme Love. Out of the four kinds of devotees-the suffering (arta), the seeker for truth (jijnasu), the self- interested (artharthi), and the wise (jnani), the last one is the best. He alone knows that the Lord pervades the entire universe (vasudevah sarvam). He sees the Lord in everything and everything in the Lord.[25] He knows that all is strung on God, like pearls on a string,[26] that God is the immanent inner controller of all. 'When devotion is perfect, then the individual and his God become suffused into one spiritual ecstasy, and reveal themselves as aspects of one life. Absolute monism is therefore the completion ofthe dualism with which the devotional consciousness starts.'

THUS we see that Jnana is the most important thing, being the very essence of Reality. Karma and Bhakti, understood in their proper senses, are only manifestations of jnana. Without jnana, liberation is impossible and so is detachment or renunciation in action and so is disinterested devotion to God. The Lord has to give knowledge to his devotes so that they may reach him. There is nothing purer than knowledge.

There is undoubtedly a great influence of the Upanisads on the Gita. Tradition also supports this view when it makes Shri Krisna a cow-herd milking the celestial milk of Gita from the Upanisads pictured as cows, Arjuna acting as a calf, for the sake of the wise.[27] In the Gita the absolutism of the Upanisads is tinged with theism. Lord Krisna is a personal God; He is the Creator, eternal and imperishable, and yet He takes birth in theworld to preserve Dharma when it is going down.[28] But ultimately, theism culminates in absolutism which is the highest note. Reality is transcendent as well as immanent.

Some scholars see the influence of Sankhya on the Gita. Certainly there are some striking similarities between them, but there are differences also. For example, let us compare Katha and Gita here with Sankhya. In the Katha we find that the senses are higher than the objects; the mind is higher than the senses; the intellect is higher than the mind; the Mahat is higher than the intellect; theAvyakta is higher than the Mahat; and the Purusa is higher than the Avyakta; and there is nothing higher than the Purusa which is the Limit, the Ultimate End.[29] In the Gita we find; the senses are higher than the objects; the mind is higher than the sense; the intellect is higher than the mind; and He that is higher than the intellect is the Ultimate End.[30] The Gita also uses the words; 'the thre qualities of Sattva, Rajas and Tamas', 'Prakrti', 'Purusa'[, 'Avyakta' etc. Some scholars opine that this suggests the influence of Sankhya on the Gita. Moreover, the Gita uses words 'Sankhya' and 'Yoga' also.But we may explain, following Shankaracharya, that Sankhya means 'knowledge' and Yoga means' action' in the Gita. And it is precisely in this sense that these words are used here. The words 'Avyakta' and 'Prakrti' mean the unmanifest power of God. We may explain them as due to the influence of the Upanisads, e.g. Katha cited above, unless we are prepared to believe that Katha itself is influenced by Sankhya which is very controversial point. Further, the important differences between the Gita and the Sankhya might be noted. The Prakrti of the Gita is not an independent entity, but only the power of God. The Purusa here means the Jiva who is regarded as a part of God.[31] God is immanent in all and He is the Purusottama, the supreme Soul. The plurality of souls is,

therefore, out of questions. The ideal of the Gita is the positive and blissful union with the Absolute, and not the negative Kaivalya of the Sankhya.

Some of the contradictions, though they are only apparent and super-final to us, in Gita have led scholars to difference opinions. Some explain them as due to the fact that the Gita is not a systematic philosophical work, but a mystic poem. On the other hand, some scholars try to explain them by saying that there are certain interpolations in it.

Some say that the Gitaq was originally pantheistic, but later on, was made theistic by the devotees of Vishnu. This is absurd because Lord Krisna is essentially a personal God and theism is quite dominant in the Gita. Accepting this position, Garbe made an attempt to reconstruct the original Gita by pointing out the interpolations, in it which, he thought, were made by the Vedantic philosophers. Prof. Winternitz agreed with Garbe, but some repeated studies of the Gita afterwards made him admit that it taught 'theism tinged with pantheism'. He, therefore, did not regard those passages where Krishna speaks of Himself as immanent in the world as interpolated; but he still believed with Garbe, that the passages which suddenly describe Bhrahman without reference to Krishna (II, 72; V, 6-7-10 etc) as well as those which glorify rituals and sacrifices (III, 9-I8 etc) wer interpolated. Perhaps, some more revisions of the Gita would have made Prof. Winternitz allow some more concessions. Dr. Belvelkar has tried to show that there are no interpolations in the Gita. We are also tempted to agree with Dr. Belvelkar. In our view, the root- fallacy lies in believing that theism and pantheism, that qualified monism and unqualified monism are opposed to each other. At least they are not so in Indian Philosophy. The unqualified monists are absolutists and they never quarrel with qualified monists; on the other hand, they admit qualified monism as the highest appearance which we have. They only say that it is not final, that there is one step more to be taken when similarity merges in transcendental unity and all qualifications merge in the Absolute. In our view this is amply illustrated by the teachings of the Gita.

Footprint

1. I, 35
2. II, r6. naasato vidyate bhavo nabhavo vidyate satah.
3. II, 22
4. IV, 29
5. VI 29
6. VI, 7, 8 : XIV, 24, 25
7. VI, 19
8. VI, 20, 23
9. dadami buddhiyogam tam yena mamupayanti te. X, 10
10. II, 59
11. nahi jnanena sadrsham pavitramiha vidyate VI, 38.
12. jnanitvatmaiva me matam, VII, r8.
13. nahi dehabharta shakyam traktum karmanyashesatah, XVIII, II.
14. loko yam karmabhandhanah, III,
15. III, r6.
16. kayanam karmanam nyasam sannyasam kavayo viduh, XVIII, 2
17. II, 47
18. sankhyayogau prthag balah pravadanti na panditah, V, 4.
19. tasya karyam na vidyate. III, 17
20. lipyate na sa papena padmapatrm ivambhasa, V, 10.

21. lipyate na sa papena padmapatram ivambhasa, V. 10.
22. IX, 3I
23. IX, 30, 31, 34
24. XVIII, 65, 66
25. tesamaham samuddharta mrtyusamsarasagarat, XII, 7
26. VII, 16, 17, 19.
27. mav sarvamidam protam sutree manigana iva, VII, 7
28. sarvopanisado gavo dogdha Gopalanandanah. Partho vatsah sudhir bhokta dugdham Gitamrtam mahat.
29. VI, 7, 8
30. Katha 11
31. 3, 4
32. XV, 7 XVIII, 6r

Reference Books

- Shrimad Bhagvadgita lesson -2, Slok No. 66
- Tast on the Gita - Vinoba Bhave, Lesson -8, from Page 101, 102, 104,105, Page - 62, 63, 64,
- The Bhagvatgita - S. Radha Krishnan from Page - 44, 45, 48, 50

Development of Scientific Attitude during Graduate Level

Dr. Avinash Pandey

Farmer Associate Professor
Faculty of Teacher-Education
Nehru Gram Bharti University,Allahabad

Life is complex, the world is not perfect. Many different kinds of people live on this planet. Educators and psychologists are trying to know the best way to educate or counsel many people who have a history of poor achievement in school and college and who suffer a poor quality of life in term of low aptitude, low scientific attitude, poor working conditions, high rates of unemployment and other social and behavioural disadvantages. Educational research provide a glimpse to providing insights to changing the life experiences of those who suffer from discrimination and oppression.

The development of any country is based on the scientific knowledge. Progress in science depends upon continuous scientific investigations. The attitude has an effect upon students' selections of different subjects and also on their interest and achievement in the scientific knowledge. Positive or favourable attitude facilitates the learning of subjects while a negative attitude results in poor learning and achievement. An attitude can be defined as a way of regarding things; it can also be considered as a feeling or pattern of thoughts. The scientific attitude on the other hand, can be defined as a way of looking in to things that are governed by facts which are known as well as demonstrative. In addition to the knowledge and process dimensions of science some recognition has been given to scientific attitude and to developing these attitudes in students. It is generally maintained and accepted unquestionably that scientists uphold a set of common scientific attitudes.

According to Abdullahi (1982), through science teaching certain social ethics and values such as honesty, rationality, objectivity and making judgment on the basis of reliable information can be developed in our youths. He also listed open-mindedness, curiosity and optimistic approach to failure as values that are closely related is scientific training. These attitudes are very important for all citizens.

In the light of mentioned fact about scientific attitude, researcher decided to explore its process of development at graduation level. Present study is result of researcher's curiosity. The present paper deals with those students, who are studying at various stages of graduation level in respect to their scientific attitude. It is an effort to explore their development of attitude towards science by comparing with one stage to another. The present study planed to find out significant difference in their scientific attitude at different stages of graduation level.

Objectives :

1. To compare the scientific attitude of graduation level students of science stream.
2. To compare the scientific attitude of graduation level students of art stream

Hypothesis : The following hypothesis have made on the basis of mentioned objectives :

1. The students of first year, second year and final year of graduation level of science stream are differ with each other in scientific attitude.

2. The students of first year, second year and final year of graduation level of art stream are differ with each other in scientific attitude.

Methodology : Developmental study of descriptive research method was used for present study. Horizontal method of developmental study was applied to assess the development of scientific attitude of students of graduation level during first year to final year. Random sampling was used to select the sample. Three groups of science and three groups of art stream were prepared from the sample named as group of first year, second year and final year students of both stream. Each group contained 35 students. Distribution and size of sample is given below in table no. 1

Table No. 1 ***Details of sample size and its distribution***

Sr.No.	Faculty	Students groups	No. of students
1	Science	First Year Group	35
		Second Year Group	35
		Final Year Group	35
2	Art	First Year Group	35
		Second Year Group	35
		Final Year Group	35
		Grand Total	**210**

Scientific attitude questionnaire (SAQ) developed by Prof. K. S. Mishra was used to collect relevant data. ANOVA statistical technique used for analysis.

Result and Discussion : Collected data and responses were classified in given tables :

1. It was hypothesized that *The students of first year, second year and final year of graduation level of science stream are differ with each other in scientific attitude.* Statistical technique ANOVA was applied for comparing scientific attitude of students of first year, second year and final year of graduation level belonging to science stream. Result shown in table No. 2.

Table no. 2 ***Sum of squares, sum of means and F-ratio of students related with first year, second year and final year of science stream***

Source	Degree of freedom (df)	Sum of squares (SS)	Sum of mean (MS)	F-ratio
Between	2	36.93	18.46	0.31*
Within	102	60074.47	58.89	
Total	104	6044.4	58.11	

*Not significant at 0.05 level

Table no 2 shown that calculated F-value (0.31) is not significant at 0.05 level of significance. Result shown that the null hypothesis can be accepted at 0.05 level of significance and research hypothesis no. 1 *The students of first year, second year and final year of graduation level of science stream are differ with each other in scientific attitude* can be rejected at the same level of significance. It means that students of first year, second year and final year of graduation level of science stream have same scientific attitude. Therefore it can say that scientific attitude does not develop significantly during graduation in students of science stream.

2. It was hypothesized that *The students of first year, second year and final year of graduation level of art stream are differ with each other in scientific attitude.* Statistical technique ANOVA was applied for comparing scientific attitude of students of first year, second year and final year of graduation level belonging to art stream. Result shown in table No. 3.

Table no. 3 ***Sum of squares, sum of means and F-ratio of students related with first year, second year and final year of art stream***

Source	Degree of freedom (df)	Sum of squares (SS)	Sum of mean (MS)	F-ratio
Between	2	77.18	38.59	0.37*
Within	102	10612.82	104.04	
Total	104	10690.06	102.78	

* Not significant at 0.05 level

Table no 3 shown that calculated F-value (0.37) is not significant at 0.05 level of significance. Result shown that the null hypothesis can be accepted at 0.05 level of significance and research hypothesis no. 1 *The students of first year, second year and final year of graduation level of art stream are differ with each other in scientific attitude,* can be rejected at the same level of significance. It means that students of first year, second year and final year of graduation level of art stream have same scientific attitude. Therefore it can say that scientific attitude does not develop significantly during graduation in students of art stream.

Discussion- Result of ANOVA have been shown that student of first year, second year and final year of graduation level of science and art stream do not differ in scientific attitude. It mean that students of different levels of graduation are similar so for as their scientific attitude is concerned. This may be due to there as on that student of mentioned three levels have already a proper understanding about science and its practical aspect during earlier stages of development.

Conclusion- The present study reported in previous was undertaken to assess the scientific attitude students of science and art stream and assess the difference between different level of graduation. Results shows that there is no difference in scientific attitude among students of graduation level of science and art stream. It means during graduation scientific attitude do not develop significantly. Therefore it can say that-

- Scientific attitude do not develop significantly in students of science stream during gradation.
- Scientific attitude do not develop significantly in students of Art stream during gradation.

References :

- Ali, M.S. and Awan, A.S. (2013). Attitude towards science and its relationship with students achievement in science. *Interdisciplinary Journal of contemporary Research in Business*.Feb.4.10.
- Arul, (2009). A comparative study of scientific attitude of introvert and extrovert students of class 12^{th}. Dessertation (Education). NGB University.
- Ergul, *et. al.* (2011). The effects of inquiry based science teaching on elementary school students science process skill and science attitude. *Bulgarian Journal of science and education policy (BJSEP)*.5.1.
- Mamta, (2010). A comparative study of scientific attitude among students of different socio economic status. Dessertation (Education). NGB university.
- Osborne,J. Simon,S. & Collins,S. (2003). Attitude towards science: a review of the literature and its implications. *International Journal of Science Education,* 25(9). 1049-1079.

Information and Communication Technology (ICT)Initiatives for Teacher Education Programme

Dr.Ajay Prakash Tiwari

Reader, Department of Education,
Nehru Gram Bharti University, Allahabad

Today we are living in the age Information and Communication Technology (ICT) and the ability to use Information and Communication Technology effectively and appropriately has now become essential for everyone. Seeing the necessity it was felt that training in Information and Communication Technology should be introduced at all levels of education. But for this the first step would be to train teachers in Information and Communication Technology so that they are comfortable with information and communication technology and its adaptation in teaching and learning. This has placed a new challenge for teacher education and in turn on teacher educators.

Redesigning Curriculum for Teacher Education- With the growing importance of Information and Communication Technology in classroom instructional design and application understanding and mastering the basic skills and concepts of Information and Communication Technology are now regarded by many countries as part of the core of education alongside reading and writing. NCERT in its National Curriculum Frame Work for School Education (2000) has also focussed on this issue. Integration ofInformation and Communication Technologyinto school curriculum therefore has a strong pedagogical rational. But along with this there is also need for school teachers who are proficient in Information and Communication Technology. Each year more than 2,50,000 pupil teachers undergo pre-service teachers training across the country. Therefore teacher education programmes have to be reoriented for preparing teachers for schooling of children for the 21st century. Hence teacher educators would have to be enabled for discharging the new responsibility of preparing teachers competent in pedagogy and instructional technology relevant to effective use of Information and Communication Technology.

For empowering our future teachers with Information and Communication Technology can be done through development programmes for in-service and pre-service teachers. Information and Communication Technology should be included as core programme in teacher training curriculum. Teacher trainee should be able to discover, understand and use Information and Communication Technology in practice teaching of various subjects. Teacher training should help the student teacher in discovering Information and Communication Technology tools and their general functions and implication in teaching of various subjects.

Teacher educators should alsobe trained in use of Information and Communication Technology to carry out teacher training programmes effectively

ICT Initiatives of NCTE- NCTE is playing active role in promotion of use of Information and Communication Technology by teacher educators. The NCTE has used a multipronged approach comprising of organisation of Information and Communication Technology literacy camps for teacher educators. Development and dissemination of electronic resources by putting all of its major publications on the web for open access and making available multimedia CDROMS.

In order to help teacher educators in becomingInformation and Communication Technology literate, the NCTE has developed a self- learning CD-ROM. The ICT literacy CD-ROM has been produced with English and Hindi commentaries. NCTE believes that when the teacher educators become Information and Communication Technology literate, they would be able to use the rich digital resources in teacher education. In order to provide experience in Information and Communication Technology to teacher educators, Information and Communication Technology awareness camps were organised in teacher education institutions.

ICT Model for Pre-service Teacher Trainees- Teacher trainees' needs may be looked in the wider context of information literacy, i.e. the ability to search for, identify and critically evaluate information, content select, adapt, present and communicate information to meet particular learning needs. Through training student teacher can achieve the ability to understand the relevance of the skills and apply it in teaching and learning situations. Flexibility is also important to make student teacher professionally up to date in continuous changing area of the application of Information and Communication Technology. Actually successful integration of Information and Communication Technology in to teaching depends on teacher's awareness and ability to understand and utilize Information and Communication Technology.

In this paper an attempt has been made to develop a model for pre-service teacher trainees to inculcate in them the basic knowledge and skills in the use of Information and Communication Technology in teaching activities.

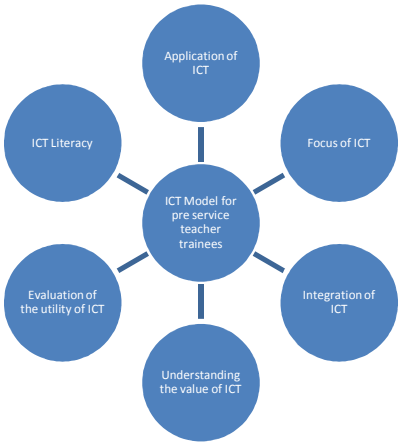

ICT Literacy- Information and Communication Technology literacy in the teacher training programme as a separate subject to make them aware of the role of Information and Communication Technology in education.

Application of ICT - Application of Information and Communication Technology in various subjects like languages, science, social science, this includes statistics, creating graphics, spread sheet design and database design.

Focus of ICT- Focus on improving subject teaching using Information and Communication Technology so that teacher become able to enrich their own ways of teaching.

Integration of ICT- Integration of Information and Communication Technology in all aspects of professionallife.

Understanding the value of ICT- Teacher educators, trainees and others within the system need to be convinced of the value of Information and Communication Technology personality and professionally.

Evaluation of the utility of ICT- To examine the potential of new technology in various teaching learning situations such as utility of Information Technology based teaching material and teaching environment in essential.

Conclusion and Suggestions- In the end it can be concluded that today use of Information and Communication Technology has become a necessity in each and every sphere of life whether professional or personal. Therefore it has become the need of the hour that every child is being given training in the use of Information and Communication Technology from the early school education. For this the first step is that the school teachers a competent enough in this new technology. Visualising this need it was felt integrate it with teacher training programmes.

In this connection NCTE has to share its major responsibility by providing materials and other help and guidance as information literacy should be an integral part of teacher education. Necessary support,infrastructure and training facilities are essential component, mechanism are to be put to ensurethat teacher educators have adequate access to Information and Communication Technology. Mechanism should be developed in identifying, selecting and evaluating the Information and Communication Technology resources appropriate to their needs. The most important suggestion is that new teacher qualification should address the need for all teachers to be Information and Communication Technology literate in immediate future.

The NCTE has to play very important role for raising the quality of teacher education by taking advantage of developments in Information and Communication Technology. Some recent development in Information and Communication Technology can be effectively used in delivering learning resources at near zero cost to learners across an entire continent. One such technology that has recently emerged on the scene is the satellite and digital transmission, two of the most powerful technologies of the information age.

Teacher educators can also be trained in the use of Information and Communication Technology through Academic Staff Colleges or through training camps organized in selected IASE, DIET, SCERT, NCERT or other recognised institutions of teacher education.

References

- Aggarwal, J.C.(1995), Essentials of Educational Technology, Vikas Publishing House Pvt Ltd, Delhi.
- Bhatia, R. (2005), ICT Enabled Teacher Education, University News Vol. 43(22), pp 7-9 & 13.
- Dahiya, S.S.(2005) ICT Enabled Teacher Education, University News Vol. 43(18), pp109-114.
- Kumar,K.(2008), Curriculum Reforms in India Educational Review, Vol. 44, No. 2.
- National Policy on ICT in Education, Ministry of Human Resource Development, Government of India.
- NCERT (2000), National Curriculum Framework for School Education, NCERT, New Delhi.
- NCERT(2005), National Curriculum Framework, NCERT, New Delhi.
- NCTE (2009) National Curriculum Framework for Teacher Education, NCTE, New Delhi.
- Pattnaik, P.K. (2008) Role of ICT in Enhancement Teacher Education, MERI Journal of Education Vol. 3, No.1, 2008, April.
- Siddiqui M.A. (2012) Quality Teacher Education: A critique on role of NCTE: University News, Vol, 50(29) 06-22, July,

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक – किरातार्जुनीयम्
लेखक – डॉ0 रामसेवक दुबे
प्रकाशक – शारदा पुस्तक भवन
मूल्य – सत्तर रुपए मात्र
पृष्ठ – 154
मो0 – 09415234851

किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के प्रारम्भिक तीन सर्ग विशेष शास्त्रीय गुत्थियों से युक्त हैं, इसीलिए इन्हें 'पाषाणत्रय' की संज्ञा प्रदान की गयी है। इनमें भी प्रथमसर्ग का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। शिक्षाप्रद अनेक सूक्तियों और काव्यात्मक वर्णनों से परिपूर्ण इस प्रथम सर्ग की विशेष रूप से छात्रोपयोगिता को समझते हुए इसे विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा स्नातक अथवा परास्नातक की कक्षाओं में संस्कृत विषय के पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया है। टीकाकार ने इस हिन्दी टीका की रचना करके न केवल जिज्ञासु विद्यार्थियों का बौद्धिक कल्याण किया है, बल्कि ग्रन्थ के पद्य में आयी हुई शास्त्रीय गुत्थियों को अत्यन्त सहज रूप में सुलझाकर सुधीजनों का भी उपकार किया है। इतना ही नहीं 'भारवेरर्थगौरवम्' जैसे बहुचर्चित और सुविचारित विषय को अपनी प्रसन्न गम्भीर शोधपरक शैली के द्वारा सुस्पष्ट करके एतद् विषयक भ्रान्त धारणाओं का समूल खण्डन भी किया है। इसके कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट कराना चाहता हूँ, जो इस प्रकार हैं–

1. ग्रन्थ की भूमिका में महाकवि भारवि का जीवन–वृत्त और समय अत्यन्त सरल भाषा में तथ्यगत प्रमाणों के द्वारा विश्लेषणात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है, जो अन्यत्र दुर्लभ है।

2. 'भारवेरर्थगौरवम्' की सुस्पष्ट और विश्लेषणात्मक शोधपरक व्याख्या इस ग्रन्थ की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है। वस्तुतः जिस अर्थगौरव के लिये महाकवि भारवि संस्कृत काव्यजगत् में मूर्धन्य स्थान पर अभिषिक्त हुए उस अर्थगौरव का तात्पर्य क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर पर अत्यन्त गम्भीरता से विचार करते हुए अर्थगौरवविषयक पूर्ववर्ती समस्त मान्यताओं पर दृष्टिपात किया गया है और उनका तर्कपूर्ण खण्डन करके भारवि के काव्य में स्पष्ट प्रतिपादित और भारवि का अभिमत सौष्ठव एवं औदार्य के गुणों से विभूषित और विनिश्चित अर्थ वाली वाणी को ही अर्थगौरव का तात्पर्य सुनिश्चित किया गया है। जिसे महाकवि भारवि ने प्रथम सर्ग के तृतीय पद्य में ''सौष्ठवौदार्थविशेषशालिनीं विनिश्चितार्थामिति वाचम्'' कहकर अभिव्यक्त किया और अपने इसी अभिमत को सम्पूर्ण महाकाव्य में पदे–पदे प्रकट किया है। भारवि के अर्थगौरव–विषयक इस अभिमत को उनके काव्य में आये हुए पद्यों को उदाहरणरूप में प्रस्तुत करके स्पष्टतया विवेचित किया गया है ताकि सुधी पाठक अर्थगौरव का सही तात्पर्य समझ सकें। वस्तुतः पूर्ववर्ती टीकाकारों और विद्वानों ने भारवि के काव्य में आयी हुई विभिन्न सूक्तियों और अर्थान्तन्यास अलकांर के उदाहरणों को ही अर्थगौरव भी उदाहरण भी समझ

लिया और 'भारवेरर्थगौरवम्' के तात्पर्य पर विचार किये विना उन्हीं उदाहरणों को भारवि के अर्थगौरव के उदाहरण रूप में प्रस्तुत करने लगे। अपनी भ्रान्तधारणाओं और पूर्वाग्रहों के वशीभूत होकर विद्वान् लेखकों ने इस तथ्य पर विचार करना आवश्यक ही नहीं समझा कि महाकवि भारवि स्वयं अर्थगौरव का क्या अभिप्राय मानते हैं अब प्रस्तुत व्याख्या का समुचित अध्ययन करने पर जिज्ञासु पाठक 'भारवेरर्थगौरवम्' का तात्पर्य ठीक प्रकार से समझ सकते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

3. इसी प्रकार प्रथम सर्ग की कथावस्तु का सारांश विन्यासों के अन्तर्गत विभक्त करके जिस नवीन दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है वह अपने आप में अत्यन्त सराहनीय है।

4. ग्रन्थ के मूल भाग में प्रत्येक श्लोक का आवश्यक प्रसंग देकर यह समझाया गया है कि अमुक श्लोक में भारवि कहना क्या चाहते हैं? ऐसा सुस्पष्ट प्रसंग किरातार्जुनीयम् की अन्य टीकाओं में नहीं मिलता।

5. श्लोकों का सर्वथा शुद्ध अन्वय और सरल, सुबोध, प्रवाहपूर्ण शैली में अविकल हिन्दी अनुवाद श्लोक में उल्लिखित भारवि के तात्पर्य को बतलाने में सर्वथा समर्थ है। किरातार्जुनीयम् प्रथम सर्ग पर अन्य उपलब्ध टीकाओं में टीकाकारों ने भारवि के श्लोकों का जैसा हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया है वह विद्याार्थी को दिग्भ्रमित कर देता है। कई–कई श्लोकों के तो ऐसे हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किये गये हैं कि विद्यार्थी को ग्रन्थ से अरूचि भी होने लगती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि श्लोकों का हिन्दी अनुवाद सर्वथा शुद्ध और सरलतम् हो ताकि विद्यार्थी आसानी से उसे हृदयगंम कर सकें और भारवि की वाणी के तात्पर्य को यथार्थरूप से समझ सकें। उदाहरण के लिए पद्यसंख्या 1,5,14,16,24,34,37, और 46 के हिन्दी अनुवाद को पढ़कर और अन्य टीका ग्रन्थों में उपलब्ध उनके हिन्दी अनुवादों से तुलना करके यह सहजतया समझा जा सकता है कि दोनों में कितना अन्तर है?

6. भावबोध एवं व्याकरण नामक शीर्षक के अन्तर्गत न केवल श्लोक में आये हुए पदों का सामाजिक विवेचन प्रस्तुत करते हुये उनका शब्दार्थ दिया गया है बल्कि प्रत्येक पद की स्पष्ट व्याकरणात्मक व्युत्पत्ति देकर उसे समझाया गया है। इनके अतिरिक्त जहाँ जिन पदो ंके भाव को व्याख्यायित करने की आवश्यकता का अनुभव किया गया वहाँ ग्रन्थ–विस्तार के भय को सर्वथा त्यागकर उन पदों की विस्तृत व्याख्या भी की गयी। इसी प्रकार प्रत्येक पद्य में आये हुए अलंकारों को भी स्पष्टता से समझाते हुए उनके लक्षणों को प्रस्तुत करके विद्यार्थी के लिए सुगम बनाने का प्रयास किया गया हैं।

अन्ततः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के प्रथम सर्ग की यह टीका जितनी जिज्ञासु विद्यार्थियों के लिए उपादेय है उतनी ही भगवती वाग्देवी के समुपासक सुधी अध्येताओं के लिए भी लाभकारी है।

समीक्षक
डॉ0 गया प्रसाद मिश्र
सहायक–अध्यापक
मथुरिया इण्टर कालेज, डिबाई, बुलन्दशहर।